

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186610

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H173 Accession No. P. G. H3046
M67M

Author मिश्र, कन्हैयालाल 'प्रभाकर'.
Title मल्ले औरन चहके द्वार 1962

This book should be returned on or before the date
last marked below. /

महके आँगन चहके द्वार

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

•



भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक - १६५

ग्रन्थमाला सम्पादक नियामक :

लक्ष्मीचन्द्र जैन

●
MAHAKE AANGAN CHAHKE DWAR

[Essays.]

KANHAIYALAL MISHRA 'PRABHAKAR'

Bharateeya Gyanpeeth Publication

First Edition 1963

PRICE Rs. 4/-

●
प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय वाराणसी

प्रथम संस्करण १९६३

मूल्य चार रुपये
●



श्रीमती रमारानी जैन

भारतीय भाषाओंकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तकपर दिये जानेवाले
एक लाख रुपये वार्षिकके भारतीय ज्ञानपीठ
पुरस्कारकी घोषणा करते हुए

मान्या श्रीमती रमा रानी जैत को

मान के साथ

५

मान्या माया,

आप घर-गृहस्थी की आचार्य-कलांगार हैं और मैं उमरा
एक विद्यार्थी इन घुठनों में घर-गृहस्थी के मेरे अध्यापक हूँ।
इन्हें आपकी ममता में स्थित होने का अवसर मिला, इसमें
अपना सौभाग्य मानता हूँ।

जीजिए, अपने हाथों ही इन्हें समाज की नई पीढ़ी को
में दे जिए बिना आपकी पुष्प परम्परा में झूले-झूले।

सदैव आपके निश्चय-

क. ल. पुमाकर

श्रीमती रमारानी जैन

अपनी पुस्तक 'माटी हो गयी सोना' में मैंने स्वर्गीया सत्यवती बहनपर जो रेखाचित्र लिखा उसका सबसे पहला वाक्य इस प्रकार है, "मैंने अपने जीवनमें बहुत-कुछ देखा है और बार-बार देखा है, पर किसी नारीमें मैंने कस्तूरबा-जैसा पत्नीत्व, सरोजनी नायडू-जैसा कवित्व, विजयालक्ष्मी पण्डित-जैसा व्यक्तित्व, रमारानी जैन-जैसा व्यवस्थापकत्व और सत्यवती-जैसा वीरत्व नहीं देखा।"

रमारानी जैनके उस व्यवस्थापकत्वकी विशिष्टता क्या है ? स्वरूप क्या है ? उसकी विशिष्टता और स्वरूपका संगम यह है कि वे व्यवस्था-शासक नहीं, व्यवस्था-राजनीतिज्ञ नहीं, व्यवस्था-कलाकार हैं ।

यह व्यवस्था-शासक क्या ? व्यवस्था-राजनीतिज्ञ क्या ? व्यवस्था-कलाकार क्या ?

शासक शक्तिके आतंकसे सारे वातावरणको अपने इशारोंपर नचाता है, राजनीतिज्ञ अपने जोड़-तोड़से । वे भी सारे वातावरणको अपने इशारोंपर नचाती हैं; पर न शक्तिके, न जोड़-तोड़से । फिर ? इशारोंसे ही वे वातावरणको इशारोंपर नचाती हैं और यहीं वे व्यवस्था-कलाकार हैं ।

उनकी कलाका सुन्दर पहलू यह है कि उनके अपनोंमें हरेक यह मानता है कि वही उनके सबसे अधिक निकट है ।

उनकी कलाका समर्थ पहलू यह है कि उनके अपनोंमें हरेक यह मानता है — उनकी बातें सुनकर मान लेता है कि उसका हित उनकी बात मान लेनेमें, उनकी इच्छाके अनुसार चलनेमें है ।

उनकी कलाका सार-सूत्र है — ड्यू शेयर टु ड्यू पर्सन्स; नो मीर, नो लैस — उचित व्यक्तिके लिए उचित भाग; न ज्यादा, न कम !

उनकी कलाकी कुंजी है : तल्लीनता । उन्हें तब देखिए जब वे राष्ट्रके सर्वोच्च आसनोपर विराजमान महानुभावोंकी मेहमानीके सम्बन्धमें अपने कर्मचारियोंको व्यवस्थाके निर्देश दे रही हों ! उन्हें तब देखिए जब वे ताश खेल रही हों ! उन्हें तब देखिए जब वे भारतीय ज्ञानपीठकी बैठकका सभापतित्व कर रही हों ! उन्हें तब देखिए जब वे किसी गम्भीर व्यापारिक प्रश्नपर अपने आत्मीयोंसे बातें कर रही हों ! वे समान रूपसे तल्लीन मिलेंगी — भावार्थलीन, फलितार्थलीन !

उनकी कलाका कमाल यह है कि वे अत्यन्त ऊँचे उत्तरदायित्वोंमें घिरी रहकर भी अत्यन्त छोटे कर्तव्योंको याद रख पाती हैं और अपनोंकी खामियोंको सहकर भी खूबियोंका लाभ उठा लेती हैं ।

उनके एक कर्मचारीने अपने पदका दुरुपयोग किया और यह बात तब खुली जब वह छुट्टीपर गया हुआ था । वह लौटा, तो परम्पराके अनुसार उसे लेने स्टेशनपर मोटर गयी । ड्राइवरने सुघड़ भलाईमें उस कर्मचारीसे स्टेशनपर ही कह दिया कि तुम्हारी बात मालूम हो गयी है । वह कर्मचारी अपसेंट हो गया और घर न आकर अपने किसी मित्रके यहाँ चला गया । मोटर खाली लौटी । उस कर्मचारीके सम्बन्धमें ड्राइवरसे कुछ नहीं पूछा गया, पर पचीस मिनटके भीतर ही उसके वेतनका आजतकका रुपया और नौकरीसे अलहदगीका आदेश दोनों उसे मिल गये !

उनका एक विश्वसनीय और सुयोग्य घरेलू कर्मचारी पिताकी मृत्यु हो जानेके कारण नौकरी छोड़ अपने घर चला गया । चार-पाँच साल बाद उन्हें उसकी ज़रूरत पड़ी । बुलाया, वह आया, रहनेको तैयार, पर उसकी परिस्थितियाँ उलझी हुई — “मुझे चार हजार रुपये कर्ज मिल जायें, तो मैं फँसे हुए कामोंको ठीक करके अपने भाइयोंको सौंप आऊँ ।”

चार हजार रुपये उसे दे दिये गये — “देखो, सब कामोंको ठीक करके आना और आनेमें जल्दी न करना ।”

वह पुन्द्रह दिनमें आया और काम करने लगा । महीना हुआ, तो

बेतन मिला । बेतनके रुपये उसके हाथमें और वह रमारानीजीके सामने,
“जी, मुझे यह बता दीजिए कि मेरे कितने रुपये हर महीने कटेंगे ।”

“क्यों, रुपये क्यों कटेंगे ?” रमारानीजीने पूछा ।

“जी, मैंने आपसे वे चार हजार रुपये उधार लिये हैं ना ?”

“उनकी चिन्ता छोड़ो; वे रुपये बाबूजीकी तरफसे तुम्हारे लिए इनाम है । जाओ मन लगाकर काम करो ।”

कर्मचारी आश्चर्य-विमुग्ध, भाव-विभोर और श्रद्धाप्रणत; पर वे निरुपलब्ध और निर्द्वन्द्व !

बहुत दिनों बाद किसीने यह घटना मुझे सुनायी, तो मैंने पूछा,
“आपने वे चार हजार रुपये कर्ज-खातेसे पुरस्कार-खाते चढ़ाये, कृपाकर इसका रहस्य बताइए ।”

बोलों, “चार हजार रुपये दो-चार महीनोंमें तो कटते नहीं, कई सालोंमें पूरे होते । तबतक वह समझता रहता कि मैं काममें ढील करूँ या भूल, ये मुझे अलग नहीं कर सकते । इससे कामकी परिपूर्णता (एफ़िशिएन्सी) कम होती । फिर इसे ज्यादातर बाबूजीके साथ रहना है और उनके बारेमें कोई अपूर्णता सहन करना मेरे लिए सम्भव नहीं ।”

उनका एक कर्मचारी बहुत वर्षोंसे उनके यहाँ है । एक दिन मैंने पूछा,
“इस आदमीका खास गुण क्या है ?”

बहुत गम्भीरतासे बोलों, “यह पक्का चोर है ।”

“पक्का चोर ?” मैंने आश्चर्यसे पूछा ।

“हाँ पक्का, हर काममें पैसे बचाता है ।”

“फिर आपने इसे यहाँ क्यों रख रखा है इतने वर्षोंसे ?”

“इसमें एक बहुत बड़ा गुण तो यह है कि यह आदेशको अवसरके अनुसार स्वयं विस्तार दे लेता है, उसकी ‘डीटेल्स’ तैयार कर लेता है और दूसरा यह कि हमें अच्छीसे-अच्छी चीज़ मिले, यह इसकी नीयत रहती है । अपने लाभके लिए यह हमारा नुकसान नहीं करता ।”

अपनोंका मन रखनेमें उनसे अधिक सहृदय-सतर्क मनुष्य मैंने नहीं देखा । उनकी एक आया ने उनसे कहा, “मैं एक महीनेके लिए छुट्टी जाना चाहती हूँ, पर मुझे कोई जल्दी नहीं, जब भी आप खुशीसे कहे ।”

परिवारमें त्योहार-संस्कार थे, वे चुप रहीं । कुछ दिन बाद उनका कश्मीर जानेका प्रोग्राम बना । जानेसे एक दिन पहले उन्होंने आयासे कहा, “हम कश्मीर जा रहे हैं । तुम एक महीनेके लिए घर जाना चाहती थी, तो कल चले जाना और जो कुछ चाहिए दफ्तरसे ले लेना ।”

दूसरे दिन सुबह जब वे हवाई अड्डे पहुँच गयीं, तो किसीने उनसे कहा, “आया रो रही थी कि मैं कश्मीर जानेसे रह गयी ।” उन्होंने तुरन्त कार भेजी और सामानसहित आयाको बुला मँगाया, “तुमने मुझसे कहा क्यों नहीं ?” और ऐसे लाड़से वे मुसकरायीं कि आया निहाल हो गयी ।

बेटीके विवाहकी सामान-सूची बन रही थी । मारवाड़ियोंमें प्रथा है कि द्वारपर लाल कपड़ेमें लपेटकर एक नारियल बांध दिया जाता है । वर उसे तलवारके प्रहारसे काटता है और तब वर-पूजा होती है । यह उस कालका प्रतीक है, जब शक्तिसे गढ़ विजय करके विजेता नरेश विजितकी कन्या ग्रहण किया करते थे । इस नारियलकी चर्चा हुई तो साहूजी (श्री शान्तिप्रसाद जैन) ने उसे पसन्द नहीं किया ।

रमारानीजीने कहा, “समधीजी (वरके पिता) को इसमें शायद आपत्ति हो । उनसे आप बात कर लें ।”

साहूजी बोले, “हाँ, मैं कर लूँगा ।”

दो-तीन बार रमारानीजीने उन्हें याद दिलायी, तो उत्तर पाया, “हाँ, मैं कर लूँगा ।” विवाहके तीन दिन रह गये, तो उन्होंने फिर साहूजीसे कहा, “आज उनसे बात कर लीजिए । फिर समयके समयपर बनाना पड़ा, तो दिक्कत होगी ।”

साहूजी साधुमना पुरुष है । वे कभी आग्रही नहीं होते । बोले, “बनवा लो नारियल, क्या बात करनी है !”

नारियल बन गया, पर विवाहके दिन वह द्वारपर नहीं लगा और उसके बिना ही वर-पूजा हो गयी। मैंने पूछा, “आपने द्वारपर वह नारियल नहीं बैधवाया।”

“हाँ, उन्हें वह पसन्द नहीं था।” वे धीरेसे बोलीं।

“पर अन्तमें तो उन्होंने स्वीकार कर लिया था।” मैंने कहा।

“हाँ, मेरे बार-बार कहनेसे उन्होंने मान तो लिया था, पर यह तो है ही कि वह उन्हें पसन्द न था। वह लगाया जाता, तो वे कुछ न कहते, उनका गुण है कि वे दूसरोंकी मान लेते हैं, पर वह उनके मनका बुरा तो लगता ही!”

“और यदि वर-पूजाके समय उसके बारेमें कोई कुछ पूछता?” मैंने पूछा, तो बोलीं, “मैं इसके लिए तैयार थी। कह देती — हमारे यहाँ वह प्रथा नहीं है।”

एक दिन मैंने पूछा, “आप मन रखनेकी कलामें बहुत पण्डित हैं इस बारेमें कोई विशेष बात बताइए।”

बोलीं, “मन रखनेसे मन रखाना बड़ी बात है। हम ऐसा वातावरण न बनायें कि मन रखना सहज न रहे और यह ध्यान रखना पड़े कि अमुक का मन रखना है।”

उनकी मानसिक भावनाका कोई दुरुपयोग करे, अपात्र सिद्ध हो, तो उनका मन-चढ़ा, मनसे उतर भी जाता है; पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस हालतमें भी उनकी कर्तव्य-बुद्धि, उनकी सहायकता, उसके प्रति जागरूक रहती है और वह असुविधा-कष्टमें हो, तो उनका सहयोग बिना मांगे उसे मिल जाता है।

एक स्नेह-भाजनको उन्होंने सेरों-धड़ियों नहीं, मनो-टनों सहयोग दिया। एक दिन किसी जिम्मेदारीके सौंपनेकी बात हो रही थी। मैंने उन्हीं सज्जनका नाम लिया, तो बोलीं, “वह बेकार आदमी है।” मैंने कहा, “आपने तो उनके लिए बहुत किया है।” बोलीं, “वह तो अपनेको करना ही था!”

उनके अन्तरकी उपेक्षा व्यवहारकी रूक्षता नहीं बनती, पर वे भुलावेमें नहीं पड़तीं — नहीं डाली जा सकतीं । एक बन्धु अकसर उनके पास बैठते-उठते थे — खूब घुल-घुलकर बातें करते थे । एक दिन उनके बारेमें मैंने कुछ कहा, तो बोलों, “वे कभी अपने नहीं हो सकते ।” भौंचक हो मैंने उनकी तरफ़ देखा तो बोलों, “वे हितैषिताकी घोषणा करते हैं, सुन लेती हूँ । दिलमें जो है जानती हूँ, पर बोलकी मिठास भी क्यों बिगाड़ूँ ?”

उनके एक आत्मीयके बारेमें मैंने उनसे कहा, “अब तो वह होशियार हो गया है ।” तुरन्त बोलों, “हां, उसने उन्नति की है; पर परेशानी यह है कि वह बात कहनेसे पहले सोचता है कि कोई होशियारीकी बात कहे ।”

व्यवस्थामें नियन्त्रण आवश्यक है, नसीहत जरूरी है । कहावत है कि ये दोनों कड़वे होते हैं, पर उनकी व्यवहार-नीति उन्हें ‘शूगर कोटेड’ कर देती है । बात-चीत हो या बैठक-मीटिङ्ग, नीति और औचित्यके विरुद्ध बात सुनते ही उनका मुँह चढ़ जायेगा, वे प्रचण्ड हो बरस पड़ेंगी और उग्रताका वातावरण बन जायेगा; पर कुछ देरमें ही यह उग्रता शान्तिमें और यह शान्ति प्रसन्नतामें बदल जायेगी और बस बातें फिर ज्योंकी-त्यों चलने लगेंगी ।

वे मसूरी आयीं, तो उनका पौत्र उनके साथ था । वे बीमार हो गयीं, पर तीन सालका बालक आग्रही कि वह उनके साथ ही सोयेगा । बेटी अलकाने बहुत प्रयत्न किये कि वह उसके पास सोये, पर बालहठ — तर्कसे अजेय । उन्होंने अलकाको रोक दिया । अब अलका अपने पलंगपर, ती बालक उनके पास । तभी बोला कोई जानवर । उन्होंने बालकसे कहा, “जानवर बोल रहा है । तू तो बहादुर है, डरता नहीं, पर अब अलका डरेगी ।” बालकका पौरुष जाग उठा और हिम्मतके साथ उठकर वह अलकाको भयसे बचानेके लिए उसके पास जा लेटा ।

‘श्रीमती रमारानी जैनका व्यक्तित्व विशिष्ट है, बहुमुखी है। उसपर संक्षेपमे कुछ कहना असम्भव है। वे आदर्श व्यवस्थापक ही नहीं, आदर्श पत्नी, आदर्श नारी, आदर्श सास, आदर्श माता, आदर्श समाज-सेविका और आदर्श नागरिक है। उनसे दृढ़ता और कोमलताका अद्भुत संगम है।’ वे चाँदनीका इस्पात है, इस्पातकी चाँदनी है। वे चिर-प्राचीन हैं, नित नूतन है। संक्षेपमें गृहस्थका एक जीवन्त विश्व-विद्यालय है — वे वे हे, उन्हें प्रणाम !



अनुक्रम



१ अगले पृष्ठोंमें		१
२ परिवार : एक नज़रमें		१९
३ सुहागरात : दाम्पत्यका शिलान्यास		२३
४ घरकी तीन कुँजियाँ		३५
५ घर : एक रसायनशाला !		४२
६ आकर्षण एक, मध्यबिन्दु दो		४९
७ एकता और सामंजस्यके लिए		५६
८ ये चार साँचे		६४
९ प्रतीक्षा : ज़हर और रसायन		७१
१० उनकी रायमें मैं गूँगा हूँ !		८०
११ उनकी रायमें मैं बातूनी हूँ !		८५
१२ बहसका अन्त		९०
१३ मतभेदके उन क्षणोंमें		९७
१४ इलाज क्या है ?		१०४
१५ वे मिले, वे बिछुड़े !		११३
१६ रूठो और नखरे करो !		१२०
१७ जी हाँ, मुझे शिकायत है !		१२६
१८ और मुझे कोई शिकायत नहीं !		१३६
१९ कायदे और फासलेसे		१४३
२० यह बात है मर्यादाकी		१५२

२१	यहाँ भलग, वहाँ साथ		१५५
२२	आप पिता हैं, मैं पुत्र, पर.....		१६१
२३	तब वे न डरपोक होंगे, न झेंपू !		१६९
२४	पतिका नाम कैसे लें ?		१७६
२५	कब जायें, कबतक बैठें ?		१८०
२६	राहत या बोझ ?		१८७
२७	ठहरें कहाँ ?		१९०
२८	आये दिनके मेहमान !		२००
२९	झाड़ू स्वयं लगाइए	...	२०६
३०	घरका सामान बाहर फेंकिण		२११
३१	लेबिल और ढक्कन : हमारे दो दोस्त		२१७
३२	आनन्दका क्षण न खो !		२२३

महके आँगन चहके द्वार •

अगले पृष्ठोंमें

विवाह, जो सब करते हैं, मैंने भी किया है अपना ही नहीं, अपने बच्चोंका भी; पर आजकल वह है बेवकूफियोंका एक ऐलबम !

ऐलबम : जिसमें अपनी, अपने परिवारकी, अपने बाल-बच्चोंकी, अलग-अलग तसवीरें लगी रहती हैं । तो मैं कह रहा हूँ कि विवाह है एक ऐसा ऐलबम जिसमें बेवकूफीकी अलग-अलग तसवीरें लगी हैं ।

यह सब मैं ही कह रहा हूँ, और अपने कानों सुन भी रहा हूँ, पर अपनी यह बात आप ही सुनकर मुझे एक अजब अटपटी-सी लग रही है, तो औरोंको भी लगेगी ही; पर क्या बताऊँ मुझे लगता है कि इस अटपटी बातमें एक गम्भीर सूत्र और समाजका रहस्य छिपा है जिसे जानकर हम बहुत कुछ जान सकते हैं ।

तो विवाह है बेवकूफियोंका एक ऐलबम और यह ऐलबम मुझे सालमें सैकड़ों बार देखना पड़ता है, क्योंकि मेरी कोठरीके सामने ही घरतीकी छातीसे गोह-सी चिपटी पड़ी है यह रटेशनकी सड़क जिसपर-से हर साल गुजरती है सैकड़ों बार।

कोई सुने तो क्या कहे कि मुझे जीवनमें दो चीजोंसे चिढ़ रही है— एक यूनियन जैकसे और दूसरे बारातके जलूससे ! भारतमें कहीं यूनियन जैक फहराता देखकर खून खोल उठता था और घण्टों भीतर-ही-भीतर नसें टूटती-सी रहती थीं । ऐसा लगता था जैसे वह मेरी छातीपर ही गड़ा है । खैर, वह अपने घर चला गया और मैं इस चिढ़से बच गया हूँ; पर ये बारातके जलूस तो मेरी छातीपर मूँग दल ही रहे हैं ।

सचमुच कोई सुने तो क्या कहे कि जो आदमी अपना सर्वनाश करनेकी लगन रखनेवालोंके भी लाभकी ही बात सोचता रहा है और अहिंसा जिसके

मस्तिष्कका बुद्धि-विलास नहीं, हृदयका रस बनकर जीवनमें रमी रही है, उसे बारातका जलूस देखकर झुँझलाहट आती है ।

गुलामीके दिनोंमें तो झुँझलाहट ही आती थी, पर क्या कहूँ स्वतन्त्र भारतमें तो कभी-कभी यह भी मनमें आता है कि इस बेवक्फू दूल्हेकी गाड़ीपर चढ़ जाऊँ और इसका यह मोर और सेहरा नोच डालूँ !

दुनिया जानती है कि राजा दूल्हाकी हर चीज या तो उधारपर आयी है या किरायेपर । जिस गाड़ीमे वर महाशय सवार है वह निश्चय ही माँगी हुई है । आगे-आगे बजता जा रहा बाजा किरायेका है, गाड़ीके पीछे पायदानपर खड़ा अरदली चाँदीका जो चमर डुला रहा है वह उधार लिया हुआ है और, और तो और, राजा साहबका यह सेहरा भी किरायेपर आया हुआ है । गाड़ीके दोनों तरफ़ पायदानोपर चाँदीके जो आसे-बल्लम चमक रहे हैं वे शायद हिन्दूकुमार सभाके हैं या लाला ननकूरामकी दूकानसे किरायेपर आये हुए हैं ।

राजा साहब इसी शानसे जनवासे पहुँचेंगे और इसी शानसे शामको बेटीवालेके द्वारपर चौकी चढ़ेंगे और तब उनका भाई या नाई इस सब सामानको मँगवाकर रख देगा, जिससे जिसकी जो चीज है, किरायेके पैसों-सहित उसके यहाँ पहुँच जाये ।

पता नहीं आजका नौजवान इतना बेशरम क्यों है कि उसे इस रूपमे जलूस निकलवाते, अपना यह स्वाँग भरते, शरम ही नहीं आती, और पता नहीं उसकी जवानी इतनी बेपानी क्यों हो गयी है कि वह कभी यह सोचता ही नहीं कि जब अपनेको कैलासका अजेय शिखर माननेवाले वे असली राजा ही युगके प्रवाहमे बह गये तो तेरी यह किरायेकी, नकली राजाई क्या माने रखती है ?

अपने जीवनमें मैंने सबसे पहले जिस चमत्कारी समारोहके दर्शन किये और आसमानो कहानियाँ सुनीं वह मेरे नगरके एक धनपतिकी कन्याका विवाह ही था !

बीसवीं शताब्दीकी उम्र अब बावन सालसे अधिककी है, पर जब यह बेचारी कोई आठ-दस सालकी बालिका ही थी तबकी बात है यह !

दोनों सम्बन्धी धनकुबेर थे । बेटेवाला एक-हजारसे ज्यादा बाराती तो लाया ही था, बाईस हाथी भी लाया था जिन्होंने अपने घण्टोंकी टन-टनसे उस छोटे-से कस्बेको इन्द्रपुरी बना दिया था ।

बेटेवालेको यह ज़िद थी कि वह कोई ऐसी चीज़ माँगे जो बेटेवाला तुरन्त न दे सके और हार माने, और बेटेवाला इस बातपर तुला हुआ था कि वह हाँ ही कहे, ना नहीं !

बेटेवालेका बड़ा हाथीवान आकर बेटेवालेके चौकमे खड़ा हो गया, “लालाजी, हमारे हाथियोंके लिए सौ बोरी बुरादा चाहिए ।” माँग मुनकर बेटेवालेके यार-मुसाहब झेंप गये, पर बेटेवाला खिलाड़ी था । उमने कहा, “हाँ हाँ, हाथी आये हैं तो बुरादा तो चाहिएगा ही । भीतर बहलखानोंमे भरा है, आइए हाथीवान साहब, मैं आपको दिखा दूँ !” वे हाथीवानको भीतर ले गये और पाँच गिन्नियाँ उसके हाथपर रखकर कहा, “यह लीजिए अपना इनाम और जो मुनासिब समझें जाकर कह दोजिए । आप भी बेटेवाले हैं, मेरी बेटेकी इज़्ज़त आपकी ही इज़्ज़त है ।”

हाथीवानने जनवासे पहुँचकर कहा, “लाला, किससे भिड़ गये हो, उसके यहाँ कई कोठे बुरादा भरा पड़ा है और मुझसे पूछता है कि तुम्हारे हाथियोंको किस लकड़ीका बुरादा चाहिए—शीशमका, नीमका, आमका या चन्दनका ?”

और बस फिर कोई बुरादा लेने नहीं आया । पर हाथियोंके लिए ईख तो चाहिए ही । दूसरा हाथीवान आया कि ईख चाहिए । लालाने तमककर जवाब दिया, “ईख क्या मेरी छतपर खड़ा हुआ है । कस्बेके चारों तरफ ईखके खेत हैं, चाहे जहाँसे ले लो !” और सचमुच हाथीवान लोग अपना हाथी लिये जिस खेतपर भी जा खड़े हुए और पूछा कि यह खेत किसका है, तो उत्तर मिला—बेटेवाले लालाका, और उन्होंने चाहे जितना ईख काटा,

किसीने उन्हें नहीं रोका । यों आते-आते ही बेटेवालोंपर बेटोवालोंकी शान छा गयी ।

शामको बारद्वारीकी बखेरमें उन्होंने अपना जलाल दिखानेका प्रसला कर लिया और सचमुच ऐसा जलूम सजाया कि फिर आज तक वैसा जलूस उम कस्बेने नहीं देखा । बाईस हाथी थे, घोड़े थे, गाड़ियाँ थीं । बारातियोंकी फ़ौज थी, बन्दूकची थे, दर्शकोंकी भीड़ थी और बखेरकी चाँदी बटोरनेवाले टकटकी बाँधे भंगियों एवं गरीबोंका भग्भङ्ग था !

बखेर हाथीपर-से हुई । बखेरमे नये पैसे थे, नयी इकन्नियाँ, दुअन्नियाँ, चवन्नियाँ, अठन्नियाँ और रुपये थे । हाथीपर-से मुट्टी फ़िकती तो वातावरणमे एक झमक-सी आ जाती । टकटकीवाले तो ऊपरसे ऊपर ही झपक लेते, पर बाक्कीका सहारा तो छीना-झपटी ही थी—जो हाथ आया, आ गया, जो पा गये सो पा गये !

बेटेवाले यों गर्वसे फूले बेटोवालेके बाहर आये कि उनपर घड़ों पानी आ पड़ा । पहली बुर्जीके सामने ज्यों ही हाथी आया कि बेटोकी माँने छाजमे एक-हज़ार चिट्टी चाँदीके रुपये रखकर दूल्हेके ऊपरसे छनका दिये । सारा वातावरण उस छनाकेसे छन्न, तो धरती मफ़ेद और वातावरण चाँदीके इस पैने व्यंग्यसे सन्न, “क्या टूटे हाथ-सा ताँबेके पैसे फेंक रहा है, बडा चला है लालाको रियासत दिखाने ! देख, बखेर यों होती है !” और कहते हैं अपनी झेंप मिटानेको विदाके दिन बेटेवालेने स्टेशन तक बखेर की, पर उड़ी चिड़िया फिर किसके कन्धों बैठी है !

यह है पुरानी बारातकी एक कहानी, जिसे देख-सुनकर मेरे बाल-मनने सोचा था, ये दोनों रिश्तेदार हैं या दुश्मन ? उन दिनों शादियोंकी यह कहानियाँ कहीं दुर्लभ न थीं । कहते हैं एक बेटेवालेने यह मजाक किया कि चुगड़ा लेकर नौकरको बेटोवालेके घर इस प्रश्नके साथ भेजा, “आपके यहाँ इतनी दही मिल जायेगी क्या ?” बेटोवालेने इतनी दही नालीमे बहायो कि वह बहतो-बहतो जनवासे तक पहुँच गयी और तब

कहलवाया, “दही पहुँच गयी है, अब आप और आपके बराती चाहे जितने चुगड़े पियें ।”

बारातोंके यह रेले अब सुनायी नहीं देते, पर क्या इसका यह अर्थ है कि अब हमारे समाजमें शालीनता बढ़ गयी है ? ना, वात असलमें यह है कि अब सम्बन्धके आरम्भमें ही कसकर लेन-देनकी बात तय कर ली जाती है, इसलिए लड़म-लड़ाके ये दाँव-पेच नहीं जमते । हाँ, इस तरहकी कहा-नियाँ आज भी दुर्लभ नहीं हैं कि दहेज कम मिलनेपर लड़कीको फिर कभी पिताके घर भेजा ही नहीं गया, उसे नंगी करके पीटा गया, ताने दिये गये, सताया गया और वह जहर खाकर सो गयी । गरज यह कि हम भालू थे और भालू ही हैं ।

क्यों जो, ये बारातें क्या है ?

आप संक्षेपमें सुनना चाहे तो मैं कहूँगा—इनसानके भेड़िया होनेकी पुरानी याद !

“इनसानके भेड़िया होनेकी पुरानी याद ?” आप चौककर यह पृष्ठों तो मैं जरा और जोरसे कहूँगा—जी हाँ, इनसानके भेड़िया होनेकी पुरानी यादगारें हैं ये बारातें, पर यह कोई अज्ञेय पहली तो नहीं है ।

हमारी इस सभ्यताके इतिहासमें एक युग था जब कि हमारी नागरिकताका विकास आज-जैसा नहीं था । आज तो नैतिकता ही नागरिकताका प्राण कही जाती है, पर तब शक्ति ही सब-कुछ थी । कबीलोंमें लोग रहा करते थे, शिकार ही व्यापार था, और ताकत ही हार्ड कोर्ट ।

एक कबीलेके लोग किसी दूसरे कबीलेके लोगोंकी लड़कीको देखते और हरबे-हथियारसे लैस हो उसपर चढ़ दौड़ते । जमकर खाँडा बजता, कुछ मरते, कुछ घायल होते, और तब कबीलेका स्वामी उस लड़कीको अपनी भुजामें लिये अपने स्थानपर लौट आता । यह उसकी विजय समझी जाती और इसके उपलक्ष्यमें उस दिन वहाँ एक महोत्सव मनाया जाता ।

सभ्यताका थोड़ा और विकास होनेपर इस प्रथाने एक नया रूप लिया कि एक गाँवके चुने हुए लोग शस्त्रोंसे सज्जित होकर दूसरे गाँवपर चढ़ जाते और वहाँकी लड़कीको दूल्हा अपने घोड़ेपर चढ़ाकर उड़ा लाता। समाजमें इसको निन्दा कोई न करता, पर इसे कोई श्रेष्ठ काम भी न समझा जाता। धर्मके नेता इसे विवाह कहते, पर कहते कि यह राक्षस-विवाह है।

सभ्यता नये दौरसे गुजरी और ताकतको यह जोत पाप मानी जाने लगी, पर तब भी कुछ लोग थे जो लड़कियोंको छीनना बुरा न समझते थे। न मोटरोंका युग था न रेलका। शासनकी व्यवस्थाका प्रभाव भी केन्द्रोंमें ही था, जंगलोंसे होकर रास्ते थे; इसलिए यह प्रथा पड़ी कि दूल्हेके साथ गाँव-नगरके चुने हुए लोग जायें और सुरक्षापूर्वक दुलहनको घर तक ले आयें; क्योंकि अब वह दुलहन समाजकी पवित्रताका प्रतीक थी।

अपनी कोठरीमें बैठा, मैं अब जब किसी बारातका जलूस निकलते विड़कीसे देखता हूँ, तो सोचना हूँ कि न यह कबीलोंका जंगली युग है न अपहरणका राक्षसी युग, और न उसके बादका सावधानी युग—तो इस दूल्हेके साथ अपने काम-धन्धोंमें हड़ताल किये, फ़िल्मोंके एक्स्ट्राओंसे नये कपड़े पहने ये बाराती, किसी भले आदमीको दो दिनके लिए परेशान करनेको भूतकी तरह उसके घरपर क्यों चढ़े जा रहे हैं !

कभी-कभी तो मन इतना तीखा हो जाता है कि आगे बढ़कर इन भलेमानसोंसे पूछूँ कि भाई, क्या तुम उस कबीला-युगके भेड़िया हो ? उस जंगली युगके छुटेरे हो ? उससे बादके युगके पहरेदार हो ? या इस युगके आवारा हो कि काम न धन्धा, उठे चल दिये ?

पहले युगोंमें ये बाराती दूल्हेके लिए ज़रूरी थे, इसलिए उन्हें बड़ी खुशामदोंसे ले जाया जाता था और वे बड़े नखरोंसे जाया करते थे—जवाँईसे ज्यादा उनकी खातिर होती थी। अब वे बेकारका बोझ हैं, पर उनके नखरे ढीले नहीं हुए। इशारेके साथ वे अपने हुक्मकी तामील चाहते

हैं। उनकी हजामतके लिए नाई, बूटपॉलिशके लिए पॉलिश-बूय, नहानेके लिए गरम पानी, शृंगारके लिए तेल-कंधा-क्रीम हाजिर रहनी चाहिए। भोजन फ्रस्ट वलास तो होना ही चाहिए और फिर भी बेटीवालेको यह सुननेके लिए तैयार रहना चाहिए, “अरे, जरा गरम-सी कचोरियाँ लाओ, ये क्या बासी टिकडियाँ-सी डाल रहे हो?” जिसके पैदा होनेमें भी कभी असली घीका छीटा नहीं पड़ा वह भी खानेसे पहले बन्दरकी तरह कचौरीको सूँघकर कहता है, “क्यों जी, तुम्हारे शहरमें डालडा बनस्पतीका बहुत जोर है?”

दो

बारातकी बात आपने सुन ली, अब दहेजकी कथा सुनिए जिसका पहला प्रश्न यह है—क्यों जी आखिर यह दहेज है क्या?

आज हमारे समाजके आँगनमें दहेज जिस स्थानपर खड़ा है वहाँ वह तीन पैड़ियाँ उतरकर आया है। आरम्भमें वह देवता था, फिर मनुष्य हो गया, और अब एक खूँखार राक्षस है।

जब वह देवता था—हमारे समाजकी शिक्षा-पद्धति यह थी : बालक पाँच-छह वर्षकी उम्रमें विद्या पढ़नेको गुरुके आश्रममें चला जाता और पचीस वर्षकी उम्र होने तक वहीं रहता-सहता, खाता-पीता और पढ़ता-बढ़ता। स्नातक होते समय उसे आश्रमका प्रमाणपत्र और गुरुका आशीर्वाद, ये दो चीजें मिलतीं और अपना घर बसानेकी जिम्मेदारी उसके सामने होती।

एक दिन वह किसी सद्गृहस्थके द्वारपर होता। गृहस्थ उससे भोजन करनेकी प्रार्थना करता, और जब भोजन समाप्त हो जाता तो वह ब्रह्मचारी उस गृहस्थसे प्रार्थना करता, “देहि मे सुखदां कन्याम् !”—कृपाकर अपनी सुखदा कन्या मुझे दीजिए जिससे मैं अपना घर बसा सकूँ !

माता-पिता उसका प्रमाणपत्र देखते, स्वास्थ्य जाँचते, कुल-मर्यादा पढ़ते, और सब-कुछ ठीक पाकर अपनी कन्या अग्निकी साक्षीमें उसे अर्पण कर देते। घर बसानेके लिए आवश्यक आरम्भिक सामग्रीके रूपमें बिस्तर, अन्न, बरतन और यथाशक्ति धनके साथ एक गाय भी देते ! बस ब्रह्मचारी-को पत्नीके साथ बसा-बसाया घर मिल जाता।

मैं कह रहा हूँ, यहाँ दहेज देवता था !

जीवनकी यह सतयुगी सात्त्विकता बदली और प्रदर्शनका युग आ-चला तो विवाहोने समारोहोंका रूप ले लिया, और दहेज अब पिताकी शानका प्रतीक हो गया। समाजमें जो जितना बड़ा दहेज दे वह उतना ही बड़ा आदमी यह परिभाषा बन चली।

मैं कह रहा हूँ—यहाँ दहेज मनुष्य था !

समाजमें धीरे-धीरे एक नयी मनोवृत्तिका विकास हुआ और अब दहेज वर-पक्षका अधिकार और कन्या-पक्षकी मजबूरी हो गया। स्पष्ट शब्दोंमें, वर-पक्षका यह हक हो गया कि बात-चीतसे या डरा-धमकाकर, जैसे भी हो सके, वह ज्यादासे-ज्यादा माल-मत्ता लड़कीवालोंसे वसूल करे और लड़की-वालोंका यह कर्ज है कि वह दबकर, पिसकर, मिटकर, अधिकसे-अधिककी उस माँगको पूरा करनेमें कुछ भी कोताही न होने दे !

मैं कह रहा हूँ—यहीं दहेज राक्षस है !

मेरे पड़ोसकी एक लड़की थी लीला। यह बीसवीं शतीकी पहली शताब्दीके अन्तिम दिनोंकी बात है। उन दिनों दहेजका राक्षसी रूप नहीं था, पर लीलाका पिता पूरा राक्षस था। वह लीलाको पूरे दामों बेचकर रईस होनेकी ठान चुका था।

लीला लावण्यमें एक सुन्दरी थी। उसके रूप-यौवनकी बात सुनकर उसके पिताके पास उम्मीदवार आते। वह उनसे खुलकर बात करता, बाज़ारके सौदेकी तरह लड़की दिखाता और दो टूक बात कहता, “बस

देखिए साहब, यह सोदेकी बात है, लिहाजकी नहीं। सौ बातकी एक बात—दस हजार रुपये नक़द लूंगा और फिर आपकी यह मरज़ी है कि आप अपनी शादीमें सौ रुपये खर्च करें या एक लाख। मेरे पास न दावत है, न खातिर-तवाजेह, बस लड़कीका हाथ है, वह आपके हाथमे दे दूंगा। आप जानें और आपका काम।”

कुछ दिन बाद बिना बापका एक बिगड़े दिल नोजवान आया और मौदा पक्का कर गया—दस-हजार लड़कीके दाम और दो-हजार सादीका खर्च, यों कुल बारह-हजार रुपये जिनमें-से दो-हजार नक़द और बाक़ी दस-हजार फेरोंके समय !

नोजवानने घर जाकर घर गिरवीं धरा और यों दस-हजार अण्ठीमें बांध मोर सिरपर बांधा। फेरोंके बाद छनोंपर जाते समय जाने कैसे उसने लीलाके कानमे कह दिया, “मैं तेरे रूपपर फ़कीर हो गया लीला ! मेरे पास अब कुछ नहीं रहा, जो था बेचकर तेरे बापको दे दिया है !”

लीला लीलामयी निकली और डोलेमें बैठते समय जाने कैसे उन दस-में-से पांच थैलियाँ खिसका ले गयी। बाप दो दिन बाद ही लीलाकी खुशामद-के लिए घर ले आया, तो वह उसे यहाँ-वहाँमें फुसलाती रही, और एक दिन वे पांच थैलियाँ भी ले नौ-दो ग्यारह हुई। फिर कभी मुड़कर उसने पीछे नहीं देखा।

लीलाका बाप कुछ दिन पागल हुआ फिरा, फिर टी० बी० में सड़कर मर गया।

मैं सुन रहा हूँ, जो आप कह रहे हैं। आप कह रहे हैं कि लीलाका बाप पापी था—अच्छा हुआ, जो उसकी यह दुर्गति हुई, पर सच यह है कि आपकी बात सुनकर मैं आपकी भी दुर्गति चाह रहा हूँ; क्योंकि आप भी लीलाके बाप हैं !

“हम लीलाके बाप क्यों होते ? लीलाका बाप कम्बख्त कहींका, अपनी सन्तानको बेचनेवाला !!”

मैं जानता हूँ कि आप गुस्सेमें गुब्बारा बने यह कह रहे हैं, पर क्या करूँ; मैं फिर दोहरा रहा हूँ कि आप हैं लीलाके बाप, जी हाँ लीलाके बाप !

मैं देख रहा हूँ कि आप मेरी बातसे भड़क उठे हैं, और अब आपका गला ही नहीं, हथेलियाँ भी कुछ कहने-करनेको मजबूर-सी हुई जा रही है । आप विश्वास रखिए, मैं आपको गाली देनेमें उन्मुक्त कर दूँगा और आपकी मार खाते समय भी पूरा सत्याग्रही रहूँगा, पर मेहरबानी करके मेरी पूरी बात मुन लीजिए ।

आप बाबू रामकिशोरके लड़केकी बारातमें गये थे । गये क्या थे, आप ही वहाँ कर्ता-धर्ता थे । रामकिशोरने अपने लड़केकी प्रोफ़ेसरीका नारा लगाकर अपने समधीसे कसकर नक़द रुपये लड़की देखने और सगाई भेजनेके नामपर पेशगी ले लिये थे, यह भी आपको याद होगा । इसके बाद भी उस बेचारेने अपनी इज़्जतके लिए लड़कीको अच्छा ज़ेवर, कपड़े-लत्ते, बरतन-भाड़ाँ दिया, और बारातकी भी अच्छी खातिर की, पर बट्टारके दिन जब शामको बारात खाना खाने बैठी तो रामकिशोरका सनकाया उसका बेटा ऐंठ गया कि जबतक नयी मोटरसाइकिल न मिले, मैं खाना न खाऊँगा ।

झक्का-बावलमें रातके ग्यारह बज गये, लड़कीके पिताने हज़ार हाथ जोड़े, लाख खुशामदें कीं, पर दूल्हेने अपनी दुनाली नीची न की । रामकिशोरने तो अन्तमें यह कहकर घोड़ा ही दाब दिया, “समधी साहब, बड़े अफ़सोसकी बात है कि आप अपने दामादकी मामूली फ़र्माइश भी पूरी नहीं कर सकते ! फिर आपको यही सब करना था तो एक प्रोफ़ेसरको दामाद बनानेकी शानमें क्यों आ गये, किसी प्राइमरी स्कूलके मास्टरको लड़कीका हाथ थमा देते ?”

और समधीको यह झटका देनेके बाद रामकिशोरने अपने लड़केको यह लटका दिया, “खाइए जनाब, खाना खाइए, हम सबको परेशान न कीजिए । हमारे समधी साहब कल चलते वक़्त आपको न दे सके तो दुल्हनकी रुखसतसे पहले आपके घर पहुँच जायेगी !”

खाना शुरू हो गया। बेटीवालेने समझा, चलो जान बची लाखों पाये। मोटरसाइकिल तीन-हजारकी पुड़िया थी और वे इतने मुँत चुके थे कि अब तीन-सौ भी उनके लिए तीन-लाख थे। पर बकरेकी माँ कबतक खैर मनाये ! चलते समय रामकिशोर कह गये कि जबतक आप मोटरसाइकिल नहीं भेजेंगे, मेरा बेटा आपकी बेटीका मुँह न देख सकेगा।

देखे न देखे, वे क्या करें ! वे अब खुद ही खुख थे, और तीन-हजार तो अब उन्हें कर्जपर भी न मिल सकते थे ! रामकिशोरने घर पहुँचते ही फन फैलाये और वे फुंकार कर ही न रहे, विष भी उन्होंने उगला। लड़की-का सब जेवर उतार लिया गया, पिताके घरसे मिले सब कपड़े छीनकर उसे पुराने कपड़े दिये गये, एक कोठरीमें वह डाल दी गयी और, ताने-तनाजे और गाली-गलौज तो रोज़के थे ही, एक दिन सासने उसे दहोतड़ों तक लिया। अन्तमें उसे यह कहकर उसके बापके घर भेजा गया, “मोटर-साइकिल लेकर ही यहाँ क़दम रखना, वरना अपना काला मुँह यहाँ न दिखाना !”

लड़की अपने बापके घर आयी और दो दिन सोचनेके बाद उसने अपनी और अपने पिताकी मुक्तिका जो उपाय खोजा, वह उसके पिताकी बन्दूक थी, घड़ामकी गम्भीर ध्वनिसे घर गूँज गया। रामकिशोरके पास मोटरसाइकिल वसूल करनेका कोई दाँव बाक़ी न रहा !

यहीं मैं कहता हूँ कि दहेज, जो कभी देवता था, हमारे समाजमें राक्षस हो गया और यहीं मैं कहता हूँ कि आप भी तो लीलाके बाप हैं, क्योंकि रामकिशोरके बेटेकी बारातमें आप बराती थे, उसके सलाहकार थे ! इससे भी एक क़दम आगे मैं कहता हूँ कि जो बारातमें बराती थे, जो विवाहमें कर्मकाण्डी पण्डित थे, जो किसी भी तरह सहयोगी थे, वे सब लीलाके बाप थे, क्योंकि वे इस सबको पाप समझकर अड़ बैठते तो रामकिशोरका यह शैतानी गुब्बारा पलक मारते फट पड़ता !

जब-जब मैं इन शैतानी गुब्बारोंकी बातें सोचता हूँ और बेचैन हो उठता हूँ कि कैसे ये फट पड़ें तो मुझे याद आ जाता है मनोहर। यों लाड़मे मैं उसे लाख मनोहर कहूँ, वह कोई लड़का नहीं है, हमारे देशके ही किसी ज़िलेमें एक जगमगाता डिण्टी कलक्टर है, और समयके प्रवाहमें अब कहीं कलक्टर भी हो तो अचरज नहीं !

वह पी० सी० एस० में क्या आ गया, उसके बापकी आँखें फूल गयीं और वह अपनेको म्यूनिसिपल बोर्डके भंगी-जमादारकी तरह देश-भरकी कुमारी लड़कियोंके बापोंका हवलदार मानने लगा। लीलाके बापका भाई ही समझिए बस उसे !

मनोहरके रिश्तेकी बात करने जो भी लड़कीवाला आता, वह तपाकसे कहता, “जनाब, मनोहरकी पढ़ाईमें मेरे बीस-हज़ार रुपये लगे हैं, वे मुझे दे दीजिए : बस लड़का आपका है !”

मनोहर भला युवक था। वह सुनता, कुदता, अपनी माँसे कहता, पर कोई असर उसके बापपर न होता। एक दिन उसने खुद उनसे कहा, “यह सब इस नये युगमें कुछ अच्छा नहीं लगता पापा !”

इतनी नम्र बात भी पापाके गले न उतरी और गरजकर वे बोले, “मैंने जनाबको यों ज़बान लड़ानेके लिए पढ़ा-लिखाकर बड़ा नहीं किया, और आपके नये जमानेके लिए अपने दोस्तोंमें मैं अपनी पोजीशन खराब नहीं कर सकता; बस यह आप समझ लीजिए !”

मनोहर चुप ही न हुआ, अपने पापाके सुरमे सुर मिला चला। उसके देखते उन्होंने अपने समधीसे बीस-हज़ार रुपये गिनकर वसूल किये और शानसे बारात ले चढ़े। बेटीवालेके घर यही लड़की सब कुछ थी। उसने चारों तरफसे नोच-खींचकर तीस-पैंतीस-हज़ार हाथमे किये और अपनेको भगवान्‌के भरोसे छोड़, बेटीको नाव पार लगायी। विवाह धूम-धामसे हुआ और पलंगके बाद जब बिदाका समय आया तो मनोहर वहीं बैठ गया। बापने कहा, समझाया, बहलाया, परचाया, लताड़ा और धमकाया, पर

मनोहर न उठा। उसका कहना बम यहो, “पचीस-हज़ार रुपये देकर मेरे ससुरने मुझे खरीद लिया है। अब कमाऊंगा और इनकी सेवा करूंगा। दुनियाके किसी बाज़ारमें दाम और सौदा एकके पास रहे हैं? जो दाम देता है, सौदा लेता है—यह तो ग़दर है कि दाम भी दिये और सौदा भी न लिया! आपने मेरे पढ़ाने-पालनेमें पचीस-हज़ार खर्चे, सो पा लिये। अब ‘नया इन्वेस्टमेण्ट’ इनका है, इन्हें ही ‘डिविडेण्ड’ लेने दोजिए!”

मनोहरमें जवानीका फ़ौलाद था। वह उखाड़े उखड़ा न हिलाये हिला, और तब उलटा बाप—जो गिनकर लिये थे, वे अनगिन दिये, और तब बेटेको लेकर, यानी अपनेको खोकर बेचारा घर लौटा!

लीलाके पास एक फ़ॉर्मूला था और मनोहरके पास दूसरा! दोनोंको मिलाकर जो मकरध्वज तैयार होता है, वह उस शक्तिका पिता है जो समाजमें बेटियोंकी बिक्रीका स्थान ले, बेटोंकी फ़रोख्त या नीलामीके रूपमें खड़े दहेज-दानवका संहार कर सकती है!

तीन

“छीं: ! छीं: !! छीं: !!! जब देखिए मेरा पति छींकता ही रहता है। मुझे यह मनहूसियत निहायत नापसन्द है, इसलिए मैं उसे तलाक़ देती हूँ।”
 ओहियोकी एक स्त्रोने दरखास्त दी।

“चलनेकी उसे तमीज़ नहीं: जब साथ चलूँ, मेरे पैरपर पैर रख देता है। मैं उसे तलाक़ देना चाहती हूँ।” न्यूयार्ककी एक नारीने प्रार्थना की।

“न गरदन इधर घूम सकती है न उधर, ऐसा भी क्या टाई बाँधना! सीधा ठूँठ-सा वह मेरे सामने खड़ा रहता है। मैं उसे तलाक़ दे रही हूँ।”
 मिचीगनकी एक पत्नीका दावा है।

“आदमी रीछ नहीं है, फिर वह मूँछें क्यों रखे ? लाख कहती हूँ पर मेरा पति नहीं मानता और अपनी मूँछें बढ़ाये जा रहा है । मेरी नफ़रत भी उनके साथ ही बढ़ रही है । यदि अब भी वह मूँछें मुँड़वानेको तैयार न हो तो मुझे तलाक़के लिए तैयार समझा जाये ।” टेनेसीकी एक महिला ने घोषणा की ।

रीनो (अमेरिका) के न्यायाधीश श्री जॉर्ज ए० बार्टलेटने एक पुस्तक लिखी है—‘मैन वीमन ऐण्ड कॉन्फ़्लिक्ट’ (मरद-औरत और उनकी लड़ाई) । ये महाशय बीस वर्ष तक तलाक़के मुक़दमोंका फ़ैसला करते रहे । अपनी इस पुस्तकमें इन्होंने अमेरिकामें तलाक़—विवाह-विच्छेद किस सीमा तक पहुँच गया है इसके कुछ उदाहरण दिये हैं । उन्हीमें-से हैं ये चार ।

ये बेचारे चार उदाहरण समाजशास्त्रका एक प्रश्न-चिह्न बन गये हैं—क्या विवाह कोई छुई-मुई है कि उँगली लगते, फूँक मारते, मुरझा जाये, टूट गिरे ?

रामसिंह खाते-पीते घरका जवान, सिरपर कोई नहीं—वह और उसकी पत्नी । कभी-कभी शामको चार दोस्त आते हैं और शराबके दौर चलते हैं । ग्यारह बजे तक रामसिंह धुत हो जाता है । दोस्त उभारते हैं, उभर उठता है और पत्नीसे कहता है, इन्हें अपने साथ मनमानी करने दे । वह नहीं मानती और लातों, थप्पड़ों, घूसों और बेतोंसे पिटती है । इस पिटाईके कितने ही संस्करण हो चुके हैं, और अभी कबतक होतें रहेंगे, इसे नहीं कहा जा सकता !

शान्ताराम भी खाता-पीता आदमी है, स्वास्थ्य भी अच्छा और रोज़-गार भी । कभी किसी और कभी किसी वेश्याको अपने घर ले आता है

और पत्नीसे कहता है कि वह उसकी खातिर करे। वह करती है, तो उससे कहा जाता है कि जले नहीं, मुसकराये। हुक्मके अनुसार मुसकरा वह नहीं पाती और उस वेश्याके सामने ही पिटती है। शरीरका सूजना और खून निकल आना तो मामूली बात है, एक बार शरावकी बोतल मारनेसे अगला दाँत भी टूट चुका है।

नन्दराम पुराने ज़मींदारका लड़का है—लड़का क्या जवान है। विवाह हुए कई साल बीते। अपने ही गाँवकी एक लड़कीके पीछे महीनों फिरा और उसके पितासे कहा कि वह अपनी बेटीका उससे विवाह कर दे। पिता तैयार नहीं हुआ। एक दिन जंगलमें उसने इस लड़कीको घेर लिया कि वह उसके साथ कहीं भाग चले पर लड़की दृढ़ रही और उसने उसके मुँहपर घृणासे थूक दिया। नन्दराम उसी रातको कहीं भाग गया। कई साल बाद पता चला कि वह साधु हो गया है।

जगदीश शिक्षित और उसकी पत्नी भी, बड़ा घर, बड़ी बात। जगदीश नम्बर एकका अय्याश रहा और रातमें कभी बारह बजेसे पहले अपनी कोठीमें नहीं घुसा। पत्नी समझदार, सहती रही। पापका प्रायश्चित्त; रोगके प्रकोपमें जगदीश पापके ही अयोग्य हो गया। अपनी इस अयोग्यताका अब वह यह प्रतिकार करता है कि हर समय जला-भुना रहता है। उसके पुराने जीवनमें ही सुयोग्य पत्नीने अपना मन सेवाके कार्योंमें लगा लिया था। अब जगदीश इससे भी जलता है और पत्नीको पीटने तक पहुँचता है। यही तक नहीं, मित्रोंमें अपनी प्रतिष्ठा बचाये रखनेके लिए पत्नीको लांछित करता है, कलंक लगाता है।

ये चार उदाहरण हमारे देखे-भाले हैं और अपने चारों ओर सावधानीसे आँख घुमानेपर किसीके भी देखे-भाले हो सकते हैं। ये बेचारे चार उदा-

हरण भी समाजशास्त्रका एक प्रश्न-चिह्न बन गये हैं—क्या विवाह कोई बन्धन-शिला है कि वह जीवनका पोषण करे या शोषण, हम उसे तोड़ नहीं सकते ?

विवाहके सम्बन्धमें आज सारे संसारमें अशान्ति है । कहीं वह पुरुषका प्रश्न है, कहीं नारीका । भारतमें पुरुष जब अपनी पत्नीसे अप्रसन्न होता है, तो परित्याग और पुनर्विवाहके द्वारा अपनी नयी दुनिया बसा लेता है, पर नारी पतिकी मृत्युपर भी उस बन्धनसे बँधी मानी जाती है । दूसरे युद्धके बादसे पश्चिममें एक नयी बात हुई है कि पहले तलाक़की अधिकांश प्रार्थनाएँ पत्नियाँ दिया करती थीं । इन प्रार्थनाओंमें पुरुषके चरित्रपर आक्षेप होते थे । अब ये प्रार्थनाएँ अधिकतर पुरुष करते हैं । इन प्रार्थनाओंमें पत्नियोंके चरित्रपर आक्षेप होते हैं । गीतामें युद्धके बुरे परिणाम गिनाते समय कहा गया है, 'प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ?' कुलकी स्त्रियाँ चरित्रहीन हो जाती हैं । पश्चिम आज इसे अनुभव कर रहा है और उसकी अन्धी नक़लकर उसके पीछे-पीछे ही चल रहा है भारत भी ।

यह एक बीचकी बात हुई । मुख्य प्रश्न तो यही है कि समाजमें विवाह एक अटूट सम्बन्ध रहे या कच्चे घागेको तरह एक झटकेमें टूट जानेवाला ?

प्रश्न महत्वपूर्ण है, पर गहराईमें उतरें तो लगता है कि यह प्रश्न अपनेमें एकांगी है, क्योंकि विवाहके छुई-मुई और बन्धन-शिला दोनों रूपांकी दुर्गति हमारे सामने है । उसे छुई-मुई बनानेसे परिवारका अस्तित्व ख़तरेमें है और बन्धन-शिला बनानेपर परिवार प्राणशक्तिसे हीन हो जाता है । विवाह अटूट रहे, वह जीवन-भरका सम्बन्ध बने, यह हमारा लक्ष्य हो तो हम सोचेंगे कि वह छुई-मुई न बने, पर हमें उसमें परिवर्तनका द्वार तो रखना ही पड़ेगा । यह द्वार सम हो और छोटा हो, यह उचित है और बस यही मध्यम मार्ग है जो विवाहके आदर्शको शोषणके तत्त्वोंसे दूर और पोषणके तत्त्वोंसे भरपूर रख सकता है ।

ये हुई सिद्धान्तकी बातें, व्यवहारकी बात है वह, जो फ्रैंकलिनने कहा कि, “विवाहसे पहले अपनी आँखें खूब खुली रखो और विवाहके बाद आधी बन्द ।” मतलब यह कि पुरुष स्त्रीके सम्बन्धमें और स्त्री पुरुषके सम्बन्धमें गुण-दोषोंकी स्वभावकी, परिस्थितियोंकी, अनुकूलता-प्रतिकूलताकी भरपूर जाँच-पड़ताल करनेके बाद विवाह करें, पर विवाहके बाद आलोचनाकी, गुणदोष-विवेचनकी वृत्तिको बाद कर विश्वासकी, वरदाशतकी, निभावकी वृत्तिपर वे टिकें ।

इसी भावको बेवर्लीनिकैल्सने इन शब्दोंमें कहा है, “विवाह एक ऐसी पुस्तक है जिसका पहला अध्याय कवितामें लिखा जाता है और शेष भाग गद्यमें ।” ठीक है, वैवाहिक जीवनका आरम्भ भावुकतामें होता है, पर उसकी पूर्णता एक यथार्थ है । कहे, भावुकता और यथार्थमें सामंजस्य स्थापित करनेकी कला ही सुखमय दाम्पत्यकी कुंजी है । यह कुंजी पाठक-पाठिकाओंको—नयी पीढ़ीको भेंट करनेके लिए ही अनुभवों और चिन्तनोसे परिपूर्ण अध्ययन अगले पृष्ठोंमें प्रस्तुत है ।

विकास लिमिटेड
सहारनपुर, उत्तरप्रदेश
होली, १९६२

—कन्हैयालाल मिश्र ‘प्रभाकर’



परिवार : एक नज़रमें

१९३० का स्वतन्त्रता आन्दोलन; सहारनपुर जेल ।

जेलोंका इन्स्पेक्टर-जनरल आया तो कहा गया कि साधारण क़ैदियोंकी तरह राजनीतिक क़ैदी भी अपनी बैरकोंसे बाहर लाइनमें खड़े हो अँगरेज इन्स्पेक्टर-जनरलको जेली-अभिवादन दें ।

अँगरेजोंसे लड़ते हुए ही तो हम जेल आये थे, फिर एक अँगरेजके सामने यह 'परेड' क्यों करें ? राजनीतिक क़ैदी इसपर तैयार थे कि जब इन्स्पेक्टर-जनरल हमारी बैरकमें आयें तो शिष्टाचारके नाते हम सब अपनी-अपनी सीटपर खड़े हो जायें, पर इसे जेल-अधिकारियोंने अपर्याप्त समझा । वे अपने अफ़सरको दिखाना चाहते थे कि राजनीतिक क़ैदियोंको उन्होंने सीधा कर दिया है पर राजनीतिक क़ैदी सीधे होनेवाले कहां थे ?

इन्स्पेक्टर-जनरल आये तो फाटकपर ही उन्होंने पूछा, "गान्धीका क़ैदी परेडपर है ?" जेलरने सिर हिलाया, तो वे चिंघाड़े, "नोन्सेन्स !"

जेलर दल-बलसहित हमारी बैरकोंके अहातोंमें आये और हम सबको बैरकोंमें धकेल ताला लगा गये । कुछ देर बाद आये इन्स्पेक्टर-जनरल, और हमें जानवरोंकी तरह बन्द देख खुश होने ही वाले थे कि हमने नारोंसे उनका मुँह पीट दिया, "इन्क़िलाब जिन्दाबाद ! महात्मा गान्धीकी जय !!"

साहब झल्लाये और दूसरी बैरकमें चले गये, पर वहीं कौन टी-पार्टी होनी थी : वहाँ भी नारोंके झाँपड़ उनपर पड़े । सहज बात कि वे नाराज हुए और उनका गुस्सा जेल-अधिकारियोंपर उतरा । वे साहबके सामने मेमने थे तो हमारे लिए भेड़िये । साहब चले गये, पर हमारे दरवाज़ोंका ताला न हिला । खानेका समय हुआ तो कहा गया कि ताला नहीं खुलेगा

और हम जँगलोंके बीचसे खाना ले लें, पर न नहाये, न धोये, और पानी बाहर अहातेमें, खाना कैसे ले लें ।

नेताने कहा, “ठीक है हम कैदी हैं और हमने नियम भंग किया है । इस अपराधका दण्ड कालकोठरी है, पर जेल-कानूनके अनुसार कालकोठरी भी मुबह-शाम एक-एक घण्टेके लिए खुलती है । हमारी बैरक भी नहाने-खानेके लिए खुलेगी, तो हम खाना लेंगे, नहीं तो नहीं । क्या हम जानवर हैं कि हमें दूरसे चारा फेंका जाये ?”

खाना वापस गया तो जेलर आये, “साहबका हुकुम है, सात दिन ताला नही खुलेगा ।”

“ताला सात दिनमें खुले या सात जनममें, खाना हम इस तरह नहीं लेंगे यह हमारी आत्माका हुकुम है ।”

“तो मरो भूखे !” पैर पटकते जेलर चले गये और बाक्रायदा भूख-हड़ताल आरम्भ हो गयी, यह मेरी पहली भूख-हड़ताल थी । भूख लगी थी, पर बेचैनी न थी । तीन-सौ कैदी भूख-हड़तालपर थे, इसलिए विश्वास था कि शाम तक फ़ैसला हो जायेगा, पर शामको फ़ैसला क्या हुआ, फ़ैसलेकी बात भी न चली । रसोईघरका एक आदमी आया कि आप लोग खाना लें तो लाया जाये, पर नेता दृढ़ रहे, वह चला गया ।

अपनी बात कहता हूँ : पेट खाली, आँतें बेचैन, नींद रुठी हुई । आधी रात-के बाद ही कुछ झपकियाँ आयीं । दूसरा दिन बेचैनीमें बीता और रातमें हलकी उबकाइयाँ आती रहीं, पर ओह तीसरा दिन कि बार-बार उबकाई और हर उबकाई पहलेसे अधिक झँझोड़ती । जाने कैसे शाम आयी, पर शाम क्या आराम लायी ? रामका नाम लो, कानखजूरेसे बचे, तो साँपको लिपट गये ।

हर साँसपर उबकाई और हर उबकाईमें मौतका झटका कि टूटी आँत और निकली आँख । आजकी रात मौतकी रात; सचमुच मनके चारों ओर मौतका घेरा ! घरकी अनुरक्तिका सन्देश बचाव, तो देशभक्तिका सन्देश बढ़ाव । आधी रातके बाद कमजोरी इतनी कि विचारोंका बोझ भी

नाकाबिले बरदाश्त, नींद आँखोंसे सौ कोस, और समयकी रफ़्तार इतनी धीमी कि घण्टा बजानेवाला भी शायद भूख-हड़ताली !

चार बजेके बाद सिजदेकी मुद्रामें तकियेके साथ सिमटे-लिपटे, देवताके वरदान-सौ नन्हों नींदकी एक थपकी आँखोंपर पड़ी तो जीते-जी स्वर्ग मिल गया । कल्पना नहीं, सचमुच स्वर्ग ! आँख खुली तो एक अद्भुत शान्ति; न हड़कल, न उबकाई, न बेचैनी; न आँतोंमें कुलबुली, न आँखोंमें आग । बेह, जैसे बाढ़ उतरी नदी — शान्त, सन्तुलित, दिन-भर शान्ति, रातमें शान्ति — एक अपूर्व अनुभव, पर इसका तत्त्व, इसका रहस्य ?

बादमें एक अनुभवोने बताया कि इसका रहस्य यह है कि जब पेटकी आगको बाहरसे भोजन नहीं मिलता तो वह खूब भड़कती है । भूख-हड़ताल-के आरम्भिक दिनोंकी बेचैनीका यही रहस्य है । तीन दिन बाद जब अग्नि बाहरसे खुराक मिलनेके सम्बन्धमें निराश हो जाती है तो प्रकृतिके नियमानुसार वह भीतर सुरक्षित खाद्य — चरबीमें-से अपना भाग लेने लगती है और शान्त हो जाती है । इसी कारण भूखा आदमी चौथे दिन शान्ति अनुभव करता है, भले ही वह कमजोर होता जाता है, पर बेचैन नहीं रहता । कहे, तब मनुष्य बाहरसे सिमटकर अपनेमें स्थिर हो जाता है, नाशकी उन घड़ियोंमें भी शान्ति पा लेता है, और यह शान्ति उसे संकटसे संघर्षकी नयी शक्ति दे देती है ।

सोचता हूँ, हमारे जीवनमें परिवारका भी यही रूप है और हमें परिवारकी शान्ति प्राप्त न होती तो हम कभीके टूट गये होते । भारतका विशाल साम्राज्य स्वार्थ और संकीर्ण दृष्टिका शिकार हो, छोटे-छोटे राज्योंके टुकड़ोंमें बँट गया । आज इसकी उससे लड़ाई, तो कल उसका इससे युद्ध । रोज नये जोड़-तोड़ और षड्यन्त्र, तो कहें — राष्ट्रीय जीवन अस्त-व्यस्त ।

इसी स्थितिमें बाहरी आक्रमण, आततायियोंके द्वारा लूट-पाट, लम्बी लड़ाइयोंके विध्वंस, तो कहें — सामाजिक जीवन भी क्षत-विक्षत । चारों ओर अव्यवस्था, अस्त-व्यस्तता और अस्थिरता !

सन्तोंकी जय कि उन्होंने उन घड़ियोंमें मनुष्यके व्यक्तित्वकी रक्षाके लिए गृहस्थीको, परिवारको, एक दुर्गका रूप दे दिया कि मनुष्य वहाँ बैठ संकटमें संघर्ष करते हुए अच्छे भविष्यकी प्रतीक्षा कर सके, और विशेषता यह कि इस दुर्गको मजबूत दीवारोंसे घेरकर भी उसे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवनसे इस कलाके साथ जोड़ दिया कि वह उनसे रस लेता रहे और घुटनके वातावरणमें न फँसे ।

यह कला एक पुस्तकका विषय है, इसके लिए एक थोसिसकी आवश्यकता है, पर संक्षेपमें यों कि त्योहारों और पर्वोंकी ऋतु-अनुकूल सर्जना कर एक स्रोतका रूप दे दिया कि उससे नित-नूतन आनन्दका जन्म होता रहे और शुष्कता न घेरे ।

संस्कारोंको समारोहका रूप दे — बन्धुभिः बान्धवैः सार्धम् — उन्हें मनानेका विधान रच, परिवारको सामाजिकतासे जोड़ दिया, तो तीर्थ-यात्राओंके द्वारा उसे राष्ट्रीय चैतन्यसे अभिविक्त किया और इस प्रकार उसे आन्तरिक शान्तिका ऐसा मनोरम और मजबूत केन्द्र बना दिया कि वह अपने सदस्योंको नाशकी घड़ियोंमें भी संघर्षकी नयी शक्ति देता रहे ।

परिवार, जिसने चारों ओर जीवनका सूखा पड़नेपर भी हमें सदियों तक सरस-सजीव रखा और हम उस दिनको देख सके, जिससे हमारे गौरवपूर्ण भविष्यका निर्माण आरम्भ हुआ और परिवार, जो जीवनराज्य होकर अपनेमें पूर्ण है, पर परिपूर्ण राष्ट्रका अंग भी । कहें, जो व्यक्तिको पूर्ण होनेका वातावरण और प्रेरणा देता है कि वह शक्ति-सफलता पाकर राष्ट्रके लिए उपयोगी-उल्लेखनीय हो सके; तभी तो घर सुखी, जहान सुखी ! जिसने अपना परिवार बना लिया उसने अपनी दुनिया बसा ली ।

सुहागरात : दाम्पत्यका शिलान्यास

मेरे एक मित्र हैं, जीवनके गुणोंसे भरपूर। एण्ट्रेन्स परीक्षामें ही इस स्थितिमें आ गये थे कि क्लर्की करें, पर अपने फ़ौलादी धैर्यसे पढ़ते रहे, बढ़ते रहे, और आज एक अच्छे पदपर हैं। स्वभाव मोठा, चरित्र सहनशील और आदतें अच्छी। पत्नी उन्हें मिली ऐसी, जैसे गाय : एकदम सरल, निपुण और प्रसन्न। पर मैं देखता हूँ मेरे मित्रमें घरेलू उमंग नहीं है। वे घरमें रहते हैं, घरके लिए जीते हैं, घर ही उनका जीवन-केन्द्र है, पर घर उन्हें वह नहीं दे पाता जो ऐसे आदमीको मिलना चाहिए। क्या बात है ?

कई बार टटोला, खखोला, पर गाँठ हाथ न आयी। उस दिन बहुत दिन बाद मिले तो बातों-ही-बातोंमें वह पड़े, और वह गाँठ मेरे हाथ लग गयी। विवाहमें अपनी पत्नीको बिदा करा लाये। विवाह पुराने ढंगका—जीवन-भरके लिए दो जीवन बँध गये, पर एकने दूसरेको देखा तक नहीं। मेरे मित्रने अपनी भाभीसे अपना कौतूहल कहा तो उन्होंने संयमकी कसम माँगी। भाभीको ज़मानतपर दोनों मिले। वधू ज़रा चुलबुली, पर वर अपनी कसम-से बँधा हुआ। वधूने कहा, “अरे, कसमें तो हुआ ही करती हैं !” और वरका नैतिक बाँध टूट गया।

टूट गया, पर मेरे मित्रको इससे जो क्षोभ हुआ वह उदासी बनकर उनपर छा गया और वे मुँह फेरकर सो गये। पहली रात और यह खर्चाटा ! पत्नीने यह देखा और उसपर भी एक उदासी छा गयी ! बस इस घटनाके बाद दोनोंमें आज तक कभी कोई मनमुटाव नहीं हुआ, पर उस पहली रातमें दोनोंके हृदयोंपर वितृष्णाकी जो रेखाएँ खिंच गयी थीं वे न दोखनेपर भी ज्यों-की-त्यों हैं और दोनोंके जीवनकी सहज उमंगोंपर उदासी-का परदा डाले हुए हैं।

गाँवकी सात सहेलियोंने परस्पर प्रतिज्ञा की कि वे विवाह होनेपर पहली रातमें पतियोंके साथ अपने मिलनको प्रगाढ़ परिचयकी सीमासे आगे न बढ़ने देंगी। छह सहेलियाँ इसमें असफल रहीं। सबसे अन्तमें उस लड़कीका विवाह हुआ जो मेरे बच्चोंकी माँ बनी। यही नहीं कि उसकी बात रह गयी, उसकी बातको पूरा सम्मान भी दिया गया। आरम्भमें ही उसे जो आश्वासन दिया गया, उसने चौकन्ना रहकर देखा कि उसके साथीने उसे एक प्रतिज्ञाकी तरह पूर्ण आस्थासे निभाया।

इस छोटी-सी बातका इस दाम्पत्यपर जो प्रभाव पड़ा वह अद्भुत था। जीवनमें अनेक संघर्ष आये, दोनोंमें गहरे मतभेद भी हुए; पर पत्नीके लिए पति कभी अविश्वसनीय नहीं हुआ और दोनों एक-दूसरेकी शक्ति बनकर जिये !

हमारे देशकी एक लोकगाथा बहुत मर्मस्पर्शी है। एक कन्या, अपने शक्तिशाली महाराजाकी एकमात्र सन्तान। लाड़में पली, रूपकी खान, महा उद्धत। बात-बातमें चिल्लाहट, हण्टरोंकी वर्षा और गर्जन-तर्जन—कौन इस ताड़काको गले बांधे ? रूपकी चर्चासे आकर्षित हो अनेक राजकुमार आये, पर उसकी उद्धतता देख लौट गये।

पिताने बहुत प्रयत्न किये, पर सब असफल। बहुत वर्षों बाद एक राजकुमार आया और गर्जन-तर्जनके अनेक रूप देखनेके बाद भी विवाहके लिए तैयार हो गया। धूमधामसे विवाह हुआ। सुहागरातको वह महलमें गया तो अपने साथ एक बकरा भी ले गया, और जिस पलंगपर वह लेटा, उससे ही उसने बकरा भी बाँध लिया। अभी उसने उस उद्धत राजकुमारीसे बातचीत शुरू भी नहीं की थी कि बकरेने वहाँ मींगनें कर दीं। राजकुमारी अपनी गर्जना आरम्भ करनेवाली हो थी कि राजकुमार डण्डा लेकर बकरेपर पिल पड़ा, और उसे इतना मारा, इतना मारा कि अधमरा कर दिया। राजकुमार थक गया तो बिना राजकुमारीसे बातें किये मुँह ढककर

सो गया। आधी रात बकरा' दर्दसे कराहा तो राजकुमारने उसे फिर डण्डे-से पीटा। राजकुमारीसे बिना बोले ही राजकुमार फिर सो गया, पर तड़कमें बकरा फिर कराहा तो इस बार राजकुमारने उठकर उसे छुरेसे कत्ल ही कर दिया।

राजकुमारीका सुसज्जित शयनकक्ष रक्तरंजित हो गया, पर राजकुमारने इधर ध्यान नहीं दिया और वह फिर सो गया। दूसरे दिन ज़रा देरसे जब राजकुमार जागा तो उसने देखा कि चुपचाप राजकुमारीने अपना शयनकक्ष साफ़ करा दिया है और कक्षकी पुनर्व्यवस्था वह अपने हाथों कर रही है। राजकुमार मुसकरा उठा कि राजकुमारी उसके पास आ बैठी और मीठी-मीठी बातें करने लगी। राजकुमारने कभी कुछ नहीं कहा, पर राजकुमारीका स्वभाव ऐसा बदल गया कि सबको आश्चर्य हुआ।

सुहागरात जीवनका प्रवेश-पर्व है। उस दिन दो हृदय जीवनका सुख-दुख-भरा पथ एक साथ पार करनेका व्रत लेते हैं, जैसे यह हमारी जीवन-संस्थाका शिलान्यास हो—यह उपदेशकोंका मत है।

सुहागरात जीवनके कोमलतम क्षणोंका पर्व है जो ब्राह्म-वेलाके मधुर मलयपवनकी भाँति आकर चला जाता है और फिर नहीं आता, यह तरुण-हृदयकी ध्वनि है।

सुहागरात जीवनके ठोस सत्यकी ओर प्रस्थान करनेका आरम्भ-महोत्सव है, यह प्रौढ़-हृदयकी प्रतिध्वनि है।

सुहागरात भावी जीवनके लिए शक्ति-संचयका केन्द्र है। बालक जैसे गर्भमें ही संस्कार ले लेता है, जो उसके जीवनमें पल्लवित होते रहते हैं, तरुण ऐसे ही सुहागरातको संस्कार ले लेता है जो उसके दाम्पत्य-जीवनमें पल्लवित होते रहते हैं, यह एक जीवन-शास्त्रीकी सम्मति है।

इन सबमें जो विचार-विभेद दिखता है उसका समन्वय सम्भव है। शिलान्यास और उद्घाटन दो होकर भी एक ही सूत्रके ओर-छोर तो हैं ?

निःसन्देह शिलान्यासमें उमंगों, आशाओं और अभिलाषाओंकी उत्ताल तरंगें हैं, पर पाई-पाई और कण-कणपर सतर्क दृष्टि रखकर चलनेकी प्रतिज्ञा भी तो है । प्रतिज्ञा जीवनमें महत्त्वपूर्ण है, पर प्रतिज्ञाकी पूर्तिमें ही सफलताका अस्तित्व है ।

संक्षेपमें शिलान्यास साधनाका आरम्भ है और उद्घाटन सिद्धिका लाभ । जरा खुले शब्दोंमें — पहला है नक्शा बनानेका मुहूर्त, और दूसरा है भवन निर्मित हो जानेका शुभ दिन । पहलेके बिना दूसरेका अस्तित्व कहाँ ?

सब अनुभवोंको अपने जीवनके विस्तृत और गहरे अनुभवोंमें मिलाकर यही मैं कहना चाहता हूँ कि सुहागरात और उसके बादके चालीस दिन सम्पूर्ण दाम्पत्य-जीवनकी सफलताओं और असफलताओंका आधार है ।

आजकी भाषामें सुहागरात है जीवनका 'ऐग्रीमेण्ट' (निर्णय-बन्धन) और उसके बादके चालीस दिन हैं उस ऐग्रीमेण्टकी 'डिटेल्स' (विस्तृत विवेचनाएँ) । अनुभवकी साक्षी है कि ऐग्रीमेण्ट तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर जीवनका वास्तविक सत्य हम डिटेल्समें जाकर ही पाते हैं । यही कारण है कि फ़ौलादी दोखनेवाले हजारों ऐग्रीमेण्ट डिटेल्समें आकर भंग हो जाते हैं । जजके सामने क़ानून एक है, पर वादी और प्रतिवादीके वकील उसकी अलग-अलग व्याख्या करते हैं । इस व्याख्याकी सफलतापर ही अभियोगका भविष्य निर्भर करता है, इसे तो हम जानते ही हैं ।

सुहागरात जीवनकी अदालतमें प्यारका क़ानून है, और उसके बादके चालीस दिन इस क़ानूनकी व्याख्या करते हैं । सुहागरातमें हम प्यार पाते हैं, और बादके सप्ताहोंमें उस प्यारकी स्थायी प्रतिष्ठाका विधान बनाते हैं । सुहागरात बैंककी पास-बुक है, और विधान उसकी चेक-बुक । पहला ज्ञान है, दूसरा कर्मकाण्ड । पहलेमें हम भोजन-सामग्री पाते हैं, दूसरेमें उसके निर्माणकी प्रक्रिया सीखते हैं । पहला कपास है, दूसरा वस्त्र-निर्माण । इसीलिए मैं कहता हूँ, पहलेसे दूसरेका महत्त्व कम नहीं है ।

सुहागरात प्यारका पर्व है, और प्यार खुद अपनेमें एक नशा है जो हमारे चारों ओर कुहासे-सी एक ऐसी हलकी खुमारीकी चादर तान देता है कि हमें होश होता है, पर मदहोशीके साथ। खुमारीकी उस अल्हड़ आँख-मिचौनीमें हम दस दिन बाद आनेवाली वास्तविकताको भूल जाते हैं, वह वास्तविकता जो शासनके दण्डकी तरह किसीके साथ भी अपनापा नहीं जोड़ती, और बस यही भूल हमारे सारे जीवनको कड़वा कर देती है।

पश्चिमने जीवनकी इस भूलको वैधानिक रूप दिया है, हनीमून ! विवाह हुआ और पति-पत्नी दुनियाकी चिन्ताओंसे दूर कुछ दिनोंके लिए उड़े। परिवारकी दुनियासे होटलोंकी दुनियामें जहाँ 'ब्वाय !' पुकारते ही मनकी इच्छा साकार हो उठती है। ब्वाय है, इस युगका कल्पतरु, जो उपस्थित होते ही इच्छाको पूर्ण कर देता है, वह 'हाँ' का ही पाठ पढ़ा है 'ना' का नहीं।

दो हृदयोंका नवमिलन, और इच्छा करते ही उनकी पूर्तिकी यह सुलभता — हनीमून जीवनमें ही स्वर्गका साक्षात्कार है। पर मैं हनीमूनका घोर विरोधी हूँ, क्योंकि यह स्वर्ग एक स्वप्न है, और स्वप्न निद्राका शृंगार है, जीवनका पाथेय नहीं। हनीमूनकी मूलभित्ति क्या है ? बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है यह। पश्चिमका मानस नहीं मानता कि जीवनमें किसी स्थायी सुखकी स्थापना सम्भव है, इसलिए वह सोचता है—जब, जहाँ, जितना सुख मिले, ले लो। इस 'ले लो' का सही अन्तर्दर्शन है, लूट लो !

यह भावना पश्चिमके मानसपर पूरी तरह छायी है। अंगरेज सैनिक जब युद्धके मोरचेपर लड़ने जाता है तो यदि वह अविवाहित हो तो विवाह कर लेता है और पाँच-सात दिन रंगरेलियोंमें जीवन बिता तब मोरचेपर जाता है। यदि वह विवाहित हो तो किसी होटलमें वह एक नया हनीमून करता है, और तब आगे बढ़ता है। दोनों हालतोंमें उसकी मनोवृत्ति एक वाक्यमें

यह होती है, “अरे कौन जानता है फिर जियें या मरें, पर ज़िन्दगीके जो मजे लूट सकते हैं उन्हें तो लूटते चलें !”

लूट अपने पीछे, व्यवस्था नहीं, अस्त-व्यस्तता ही छोड़ जाती है, और यही कारण है कि हनीमूनकी समाप्तिके साथ ही तलाक़के वातावरणका आरम्भ होता है ।

और हमारे यहाँ ?

हमारे यहाँ हनीमून नहीं है, पश्चिम-जैसा तलाक़ भी नहीं है, पर क्या हम इसपर गौरव अनुभव कर सकते हैं ? नहीं, हमारे यहाँ, ‘मरियम सो मरियम, पर टरियम नहीं’ के सिद्धान्तका कलह-शास्त्र है, पर तलाक़ या कलहाक, दोनोंकी पहली ईंट हम सुहागरात और उसके बादके कुछ सप्ताहोंमें रखते हैं । यह एक ऐसा वृक्ष है जिसे पति-पत्नी हँसकर रोपते हैं, यह भूले-भूले कि इसके फल हमें रो-रोकर चुनने हैं ।

सुहागरातमें दोनों मिले । दर्शन, परिचय, बातचीत और स्पर्श—ब्रम जीवनमें चारों ओर कल्पनाका स्वर्ग । घर, दफ़तर, मित्र, साथी, माँ-बाप, किसीका ध्यान नहीं; बस पत्नीके लिए पति और पतिके लिए पत्नी, अर्जुनके लिए चिड़ियाकी आँख-से ! पतिके लिए पत्नी सौन्दर्य और गुणोंकी खान, और पत्नीके लिए पति दुनियामें बेजोड़ ! कहीं कोई कमी नहीं, कहीं कोई अपूर्णता नहीं, दोनों एक-दूसरेमें लीन, यहाँतक कि दोष भी गुण दिखायी देते हैं । दोनोंका जीवन सुखमें डूबा-डूबा !

इन्हीं दिनोंके कुछ बिखरे दृश्य,

पत्नी प्रातः देरसे सोकर उठती है और पति महाशयको सात बजे स्कूलमें पढ़ाने पहुँचना है । पतिदेव छह बजे चुपचाप उठते हैं । स्वयं आग जला, पानी गरम करते, नहाते, चाय बनाते और टी-सेट सजाकर पलंगके पास लगानेके बाद प्यारसे पत्नीको उठाते हैं ।

पत्नीजी आँखें मलकर जागती हैं, प्यार-भरी चितवनसे पतिको निहा-रती हैं, दोनों निहाल हो जाते हैं, और यों रसमें डूबे चाय पीते हैं ।

पति महाशय सायंकालका भोजन पत्नीके साथ कर, “जरा-सी देरके लिए” बलब चले जाते हैं और रातमें ग्यारह बजे लौटते हैं । पत्नी प्रतीक्षा करती रहती है । लौटनेपर वह नाराजगीका प्रदर्शन करती है तो पतिदेव प्यारके प्रदर्शनसे उसे वहीँका-वहीँ समाप्त कर देते हैं, जैसे अर्जुनके बाणको द्रोणाचार्यने एक तिलनूकी तरह फुर्र कर दिया हो ! अब पत्नी ले आयी है गरम दूध और दोनों हँस रहे हैं ।

पत्नीका पत्र पतिकी डाकमें आया है । पतिने उसे फाड़कर पढ़ लिया है ।

“तुमने मेरा खत क्यों पढ़ा ?” यह पत्नीका धनुष-धारण है ।

“क्यों न पढ़ूँ ?” यह मुसकराता उत्तर और एक प्यार, यह पतिकी टंकोर है जिसमें पत्नीका धनुष चढ़नेसे पहले ही उतर जाता है ।

संक्षेपमे, सचाई यह है कि जीवनमें प्यारका ऐसा नशा छा गया है कि किसीको किसीकी बुराई नहीं अखरती । दोनोंके लिए दोनोंका सब कुछ ठीक है ।

पति महाशय लेखक हैं । आज कई दिन बाद कुछ लिखनेकी मूड आयी है । लिखने बैठे हैं, पूराका-पूरा लेख दिमागमें घूम रहा है । क्रलम दौड़ रही है कि पत्नी आकर क्रलम छीन लेती है । पति महाशय मना करते हैं । वह नहीं मानती । लेख बन्द हो जाता है, और रंगरेलियाँ आरम्भ !

सुहागरातको बीते कई सप्ताह हो गये, पर ये कई सप्ताह पल-से पलक मारते निकल गये । पत्नी अपने पिताके घर हो आयी । जीवनके सत्यने, घरतीके यथार्थने, प्यारका खुमार ढीला कर दिया है, कुहासा उतर गया है,

दुनिया दिखायी देने लगी है। अब प्यार भी है, जीवन भी है, जीवनकी कमियाँ और खूबियाँ देखने लायक प्रकाश भी है और इतने दिनों जो कमियोंको खूबियाँ बताया है उसकी प्रतिक्रिया भी है।

इन दिनोंके कुछ बिखरे दृश्य इस प्रकार हैं,

पति महाशय सोकर उठे हैं। पत्नी अभी सो रही है। सोती हुई पत्नीको प्यार कर, उसकी रजाईको ठीक करके चूल्हा सुलगानेकी स्फूर्ति अब पतिमें नहीं है। वे आप-ही-आप बड़बड़ा रहे हैं, “रमेशकी वाइफ सुबह चार बजे उठती है, गायको सँभालती है, घरका सारा काम निपटाती है। एक ये हैं, पड़ी हैं भैंस-सी !”

पत्नीके कान अपना काम कर रहे हैं, अब जीभ भी चली, “क्यों सारा घर सिरपर उठा रखा है !” वाक्य गरम है, वाणीने उसे पैना कर दिया है, अब वह जलाता ही नहीं, छेदता भी है।

“काम तो होता नहीं हरामखोरसे, पर जीभ देखो, कैसी चलती है कैंची-सी। पड़ी रहती है आठ बजे तक, जैसे बड़े लाट साहबकी बेटी हो !” यह पतिदेवकी ललकार है।

“देखो जी, तुम मुझे चाहे जो कह लो, पर मेरे बापको गान्धियाँ दोगे तो अच्छा नहीं होगा !” यह पत्नीकी हुंकार है। इसके बाद नारीका ब्रह्मास्त्र—आँसुओंकी झड़ी और तब यह रिमार्क, “पता नहीं, अब तुम्हारी आदत इतनी खराब क्यों होती जा रही है !”

सारा रहस्य इस ‘अब’में है। पत्नी सोचती है, पहले तो ये कभी नहीं चिल्लाते थे, मैं सोती तो हमेशासे ही हूँ, फिर अभी क्या हो गया है कि दिन नहीं निकलता और घरमें हाय-हाय मच जाती है !

ठीक तो है। पत्नीको पकी-पकायी चाय पीनेकी आदत पड़ गयी है, पर पति महाशयका मन पूछता है, क्या मैं श्रीमतीजीका बैरा हूँ, जो सारी उमर चाय ही पकाता रहूँ ? इनकी भी बात ठीक है, पर यह दोष किसका

है ? पत्नीको प्यारमें यह आदत किसने डाली है ? और डाली है तो अब भोगो अपनी करनी !

पति महाशय रातमें ग्यारह बजे कलबसे लौटे हैं, तो देखते हैं, अंगीठी बुझी पड़ी है, दूध बिलैयाका उपहार बन चुका । श्रीमतीजीके मुंहपर मरी छछूंदरें नाच रही हैं, आँखोमे गंगाकी लहरें ।

कलबसे आये थे हँसीकी फुहारोंमें, घरमे मिला लाहोरी स्यापा । तबीयत बेकाबू, “तुम्हारे घरसे किसीके मरनेकी खबर आयी है क्या, जो पड़ी करम फोड रही हो !” महाभारतके आरम्भका यह शंखनाद पति-देवने किया ।

“मुझसे आधी रात तक अकेले नहीं मरा जाता । सब अपने घरमें हँस-खेलकर सोते हैं, एक मेरे ही भाग्यमें बिपत है । अब आये हैं नवाब साहब, सैर करके !” यह पत्नीने रणसिंहेमें मारुके स्वर भरे !

“अच्छा बको मत, बड़ी आयी है नवाब साहबकी बच्ची । लुगाईके लँहोसे बँधकर मैं नहीं बैठ सकता ! तुम्हारी यहाँ तबीयत न लगे, तो अपने बापके घर चली जाओ !”

यह है पतिकी युद्धघोषणा और इसके पीछे है एक चिन्तन, पहले तो यह कभी नहीं चिल्लाती थी, कलब तो मैं हमेशा ही जाता हूँ, आखिर अभी क्या बात है कि मैं कलबसे लौटता हूँ, तो मातम मिलता है ।

और अन्तमें वही रिमार्क, “पता नहीं अब तुम्हारी आदत इतनी खराब क्यों होती जा रही है ?”

ठीक तो है, पतिको कलबके बहाने यार-दोस्तोंमें देर तक घूमनेकी आदत पड़ गयी है । जब वह पहली बार घूमने निकला, तुमने उसकी छड़ी क्यों नहीं पकड़ी ? जब वह पहले दिन रातमें देरसे लौटा, तो ये आँसू क्यों न छलके ? उस दिन तो तुम्हारी एक हलकी-सी खिद ही उसे जीवन-भरके

लिए इस आदतसे दूर कर देती । उस दिन तुम मुसकराकर रह गयी तो अब झोंको जन्म-भर !

यही गति उस लेखककी है, जिसने उस दिन कलम रख दी । अब मूड़ तोड़ी जाती है, कलम छिपायी जाती है, कापी गुम है और पुस्तक नहीं मिलती तो चिल्लाहट क्यों है ? पत्नी बेचारी आज कोई नयी बात तो नहीं कर रही ।

एक व्यक्तिगत उदाहरण इस प्रकार है,

अपनी सुहागरातके पन्द्रह-बीस दिन बाद शामको मैं घूमकर लौटा तो देखा चूल्हा संन्यास लिये है और पत्नी अपने ऊपरके कमरेमें लेटी हैं । पता चला उनकी तबीयत जरा खराब है, इसलिए आज प्रातःकाल ही सायं-कालका भोजन भी बना दिया गया था । मैंने उनकी तबीयत पूछी और वैद्यजीको बुलानेकी बात कहकर, अपना घुटन्ना-बनियाइन पहनकर मैं नीचे चला आया । उन्होंने समझा, मैं नहाने जा रहा हूँ, पर जब मैं देर तक न लौटा तो वे नीचे आयीं । देखा, मैंने चूल्हा जलाकर सब्जी छौंक दी है और आटा गूँघ लिया है ।

बेचारी परेशान, “यह क्या कर रहे हो ?”

मेरा उत्तर सरल, सरस और स्पष्ट, “मुझे बासी भोजन खानेकी आदत नहीं और तुम्हारी तबीयत खराब है इसलिए मैं तुम्हें भी बासी खाना नहीं दे सकता । प्रातःकालका खाना मैंने महरीको दे दिया है । दस मिनटमें ही भोजन बना जाता है । बैठो, दोनों साथ खायेंगे ।”

प्यारसे थपथपाकर मैंने उन्हें पीढ़ेपर बैठा दिया, पर थोड़ी ही देरमें वे चूल्हेपर आ गयीं । मैं भी जुटा रहा और सच यह है कि दस-पन्द्रह मिनटमें ही भोजन तैयार हो गया । हम दोनों खाने बैठे तो भोजनकी समस्त विशेषताओंका श्रेय मैंने अपनेको दिया और पत्नीने अपनेको । इस

बहसके साथ भोजन करनेमें बड़ा लुत्फ आया और उस दिनके बाद मुझे तो जीवनमें कभी बासी भोजनका प्रस्ताव सुनना नहीं पड़ा। कितना सरल प्रयोग है ?

आप चाहते हैं कि जब आप नहाने जायें तो स्नानगृहमें तेल, साबुन, पानी, तौलिया और धोती पहलेसे तैयार मिले ? तो सुहागरातके बादकी पहली प्रातः-वेलामें सचेत रहिए। पत्नीको यह सब समझा दीजिए, इसका उत्तर-दायित्व सौंप दीजिए और फिर जीवनके अन्तिम दिन तक निश्चित रहिए।

आप चाहती हैं कि खाना खानेके बाद जब आप आध घण्टेके लिए सोयें तो आपको कोई न जगाये ? सुहागरातके बाद पहली दोपहरमें सावधान रहिए और प्यारसे अपने पतिको यह समझा दीजिए। फिर देखिए पति महाशय स्वयंपर ही नहीं, बच्चोंपर भी पिकेटिङ् करंगे कि आपको नींद खराब न हो !

सुहागरात और उसके बादके ये चालीस दिन !

इन दिनों दोनोंका मन वृक्षकी कोमल टहनियों-सा रहता है और जरा-सी सावधानी रखकर हम उसे मनचाहा मोड़ सकते हैं। दोनोंकी मनोवृत्ति नवमिलनकी उस वेलामें ग्रहणके लिए उत्सुक और ग्रहणके लिए अभिमुख रहती है। रोम-रोममें दूसरेको अपनेमें लेनेकी मनोवृत्ति जाग उठती है। दोनों अपनेको दूसरेके लिए उपयुक्त सिद्ध करनेमें मन, वचन, कायसे प्रस्तुत रहते हैं। इसलिए पारस्परिक सामंजस्यके उपयुक्त स्वभावके नव-निर्माणकी इनसे उपयुक्त घड़ियाँ जीवनमें फिर कभी नहीं आतीं।

इन दिनों पति-पत्नी अपनेको भूलकर दूसरेकी ओर देखते हैं, जब कि बादके दिनोंमें प्रायः दूसरेको भूलकर अपनी ओर देखनेकी ही आदत बन जाती है। जीवनका यही अवसर है, जब हम अपने साथीको अपने रंगमें ढाल

सकते हैं, क्योंकि उस समय छोटीसे-छोटी बात मनपर अपना दूरा प्रभाव डालती है ।

संसारमें ऐसे भी भाग्यशील हैं, जिन्हें बना-बनाया सुखी जीवन मिल जाता है, पर असलमें सुखी जीवन 'मेड इन अमेरिका' की तरह कोई बनी-बनायो चीज़ नहीं है, उसे जीवनकी साधनासे बनाना पड़ता है । सुखी जीवन है क्या ? मनके अनुकूल परिस्थितियोंमें निवास ही वास्तविक सुखी जीवन है । इसका मुख्य केन्द्र, कमसे-कम हमारे समाजमें परिवार है और परिवारको सुखी जीवनका केन्द्र बनानेकी आधार-शिला इन्हीं दिनोंमें रखी जानी चाहिए । जो इन दिनोंका सदुपयोग इस आरम्भमें नहीं करते, इन दिनोंमें नशेके साथ निर्माणका समन्वय जो नहीं कर पाते, मेरा अनुभव है और हजारों-लाखोंका अनुभव है कि उनके भाग्यमें सुख नहीं है ।

मुद्दागरात और उसके बादके चालीस दिन; सच कहता हूँ, सारे जीवन-के सुखकी कुंजी है ।



घरको तीन कुंजियाँ

घरका आकर्षण संसारका सबसे बड़ा आकर्षण है और जिसका घर आकर्षक है, उसे किसी काल्पनिक स्वर्गके पोछे दौड़नेकी जरूरत नहीं; क्योंकि वह जीते-जी ही स्वर्गमें है, पर प्रश्न यह है कि वह आकर्षक घर है क्या ?

हरेक मनुष्य चाहता है कि उसका घर आकर्षक हो, तो आप भी चाहते होंगे कि आपका घर आकर्षक बने, पर क्या आप जानते हैं कि आकर्षक घर क्या होता है ? मैं देख रहा हूँ कि आप कुछ झुंझलाये-से हो रहे हैं, पर क्यों, मैंने ऐसी क्या बात कह दी कि आपको झुंझलाना पड़े और यों तिरछी-तनी आँखोंसे मुझे घूरना पड़े ?

ओह, आप मेरे प्रश्नसे झुंझला गये हैं और सोच रहे हैं कि भला यह भी कोई प्रश्न है कि आकर्षक घर क्या होता है ? आपका गरम-गरम उत्तर है : अजी, आकर्षक घर और क्या होता, आकर्षक घर होता है !

मैं जानता हूँ आपका उत्तर ठीक है, पर इतनी बात आप भी मेरी मान लें कि आपका उत्तर वैसा ही ठीक है, जैसा उस दिन माधोरामका था। वह मेरे पास आया और कहने लगा कि मेरा एक खत लिख दो। कार्ड उसके हाथमें था, पेन मैंने अपनी जेबसे निकाल लिया और तब पूछा, “कहो भाई माधोराम, किसे लिखा रहे हो खत ?”

बोला, “अजी, और किसे लिखाऊंगा खत, एक बेटा है बुढ़ापेका सहारा, उसे ही लिख दो कि गये हुए कई दिन हो गये अब जल्दी लौट आये।”

“कहाँ गया है तुम्हारा बेटा ?” मैंने पूछा, तो बोला, “यहाँसे तो हरद्वार गया था, वहाँसे कहाँ गया, यह मुझे मालूम नहीं।” मैंने झुंझलाकर कहा,

“जब तुम्हें यही मालूम नहीं कि तुम्हारा बेटा अब कहाँ है, तो मैं उसे खत कहाँ लिख दूँ ?”

माधोराम पूरे विश्वाससे बोला, “हरद्वारसे किसी रिश्तेदारीमें गया होगा या किसी दोस्तके घर। कहीं-न-कहीं तो होगा ही; तुम्हें इससे क्या, तुम मेरे बेटेके नाम भूत लिख दो।”

माधोराम बूढ़ा है और सभी कहते हैं सठिया गया है, इसलिए उसकी बात छोड़िए, पर जब आप चाहते हैं कि आपका घर आकर्षक हो और यह जानते नहीं कि आकर्षक घर क्या होता है, तो यह बताइए कि आपमें और माधोराममें क्या फर्क है ? भाई मेरे, यही जानना जरूरी नहीं है कि आकर्षक घर क्या है ? यह जानना भी उतना ही जरूरी है कि घर आकर्षक बनता कैसे है ?

“अच्छा, तो बताइए कि आकर्षक घर क्या होता है और घर आकर्षक कैसे बनता है ?”

आकर्षणका अर्थ सीधा है, बार-बार उसे पानेकी, पाते रहनेकी, सदा पाये रहनेकी इच्छा होना, तो आकर्षक घर वह है, जिसमें रहनेवालोंके मनमें यह इच्छा हो कि वे हमेशा वहीं रहें, दूसरे शब्दोंमें जिस घरसे उसके रहनेवाले कभी अलग न होना चाहे, वही घर आकर्षक है।

✓ घरमें रहनेवाले अनेक होते हैं, पर उनमें तीन मुख्य हैं—पति, पत्नी और बालक, तो आकर्षक घर वह है, जिसमें पति, पत्नी और बालकोंमें सद्भाव है कि वे सदा साथ रहें, एक होकर रहें। जहाँ यह सद्भाव है, वह यदि मामूली झोंपड़ी है, तब भी वह आकर्षक घर है और जहाँ यह सद्भाव नहीं है, वह धन-धान्यसे भरा महल है, तब भी आकर्षक घर नहीं है।

“ठीक है, यह तो अब समझमें आ गया है कि आकर्षक घर क्या है, पर अब यह भी बताइए कि आकर्षक घर बनता कैसे है ?”

उम्मीदें कम करो, यह आकर्षक घरका पहला नियम है। पति पत्नीसे, पत्नी पतिसे, माँ-बाप बालकोंसे और बालक माँ-बापसे जब बहुत अधिक

उम्मीदें करते हैं, असम्भव माँगोंकी पूर्ति चाहते हैं, तो निराशा होती है और वह निराशा घरके आकर्षणको खा जाती है। लो, यों समझाऊँ मैं आपको कि उम्मीदें कम करोका अर्थ है कि घरका एक आदमी दूसरे आदमीसे सब कुछ न चाहे और इसे आप यों समझें कि हर आदमीकी कुछ अपनी आदतें होती हैं, जिन्हें वह बदल नहीं सकता। इन आदतोंमें कुछ आदतें तो घरमें दूसरोंके अनुकूल-पसन्द होती हैं पर कुछ प्रतिकूल-नापसन्द भी। आकर्षक घर वह है, जिसमें हर आदमी दूसरेकी नापसन्द आदतोंको सहनेकी आदत डाल लेता है।

बोलचालकी भाषाका एक शब्द आपने सुना होगा, रहन-सहन। इसमें आकर्षक घरकी कुंजी छिपी हुई है।

“रहन-सहन शब्दमें आकर्षक घरकी कुंजी छिपी हुई है ? क्या है वह कुंजी ? हमें तो कभी वह दिखायी हो नहीं दी !”

खैर, यह कोई बात नहीं कि वह कुंजी अभीतक आपको दिखायी नहीं दी, पर यह बात आवश्यक है कि अब आप उसे देख लें और देख क्या लें, उससे आकर्षक घरका ताला ही खोल लें। रहन-सहनके शब्दमें छिपी कुंजी है रहना और सहनाका जोड़। इसका मतलब है कि जिसे किसीके साथ रहना है वह स्त्री हो या पुरुष, पति हो या पत्नी, उसे सहना जरूर पड़ता है। कहना चाहिए कि रहनेकी स्थिरता सहनेकी शक्तिपर निर्भर है, जो सह नहीं सकता, वह देर तक किसीके साथ रह भी नहीं सकता, इसलिए आकर्षक घर वह है, जिसमें रहनेवाले एक-दूसरेकी मनपसन्द आदतोंका सुख लेते हैं और नापसन्द आदतोंको सहनेकी कला जानते हैं।

“तो क्यों जी, नापसन्द आदतोंको सहना भी कोई कला है ? चित्र-कला, संगीत-कला, लेखन-कलाके नाम तो हमने भी सुने थे, पर यह नापसन्द आदतोंको सहनेकी कला क्या चीज़ है ?”

जी हाँ, नापसन्द आदतोंको सहना भी एक कला है और आप ही नहीं, पहले मैं भी इसे नहीं जानता था। एक दिन मैं उद्योगपति श्री शान्तिप्रसाद

जैनके पास बैठा गपशप कर रहा था। उनका घर एक आकर्षक घर है और आकर्षक घर क्या है, आकर्षक घरोंका नमूना है, आदर्श है। उनसे मैंने पूछा, “घरको आकर्षक बनानेकी कुंजी क्या है?”

वाले, “घरको आकर्षक बनानेकी कुंजी यही है कि कुछ भूल जायें, कुछ याद रखें।”

मैंने उनसे कहा, “बात तो आपने बहुत मार्केकी कही है, पर इसे ज़रा विस्तारसे कहे, तो इसका तत्त्व हाथ लगे।”

कहने लगे, “तत्त्व यही है कि घरमे जो लोग रहते हैं, उनमें ज़्यादा बातें तो ऐसी होती हैं, जो मोठी होती है, पर कुछ बातें कड़वी भी होती है। अब ज़रूरत इस बातकी है कि जो बातें मीठी हैं, उन्हें हम याद रखें और जो बातें कड़वी है, उन्हें भूल जायें। पर होता यह है कि हम याद रखनेकी बातोंको भूल जाते हैं और भूल जानेकी बातोंको याद रखते हैं; बस इस भूलसे घरका आकर्षण नष्ट हो जाता है।”

तो नापसन्द बातोंको, नापसन्द आदतोंको भूल जाना; यानी सहनेकी आदत डाल लेना भी एक कला है—और यह कला घरको आकर्षक बनाने-मे चित्र-कला और संगीत-कलासे भी ज़्यादा उपयोगी है।

इंग्लैण्डके बादशाह छठे जार्जका नाम तो आपने सुना ही होगा। वे रोज़ भगवान्से जो प्रार्थना किया करते थे, वह घरको आकर्षक बनानेमें भी पूरी तरह लागू होती है, यह एक अजीब बात है। उनकी प्रार्थनाके बोल थे—

—हे भगवान्, मुझे शक्ति दो कि मैं उन चीज़ोंको बदल डालूँ, जिन्हें बदल सकता हूँ।

—हे भगवान्, मुझे शक्ति दो कि मैं उन चीज़ोंको सहन कर लूँ, जिन्हें बदल नहीं सकता।

—हे भगवान्, मुझे विवेक दो कि मैं बदलने लायक और सहने लायक-का ठीक-ठीक निर्णय कर सकूँ !

“प्रार्थना तो यह उत्तम है, पर यह बात समझमें नहीं आयी कि इससे आकर्षक घर कैसे बनता है ?”

हर बात ध्यान देनेसे समझमें आती है और आपका दिमाग हवाई जहाजकी तरह ऊपर-ही-ऊपर उड़ता है। भाई मेरे, बातका अर्थ बातकी गहराइयोंमें उतरनेसे हाथ आता है, तो इस प्रार्थनाकी गहराई यह है कि जब कोई दो स्त्री-पुरुष एक घरमें आ बसते हैं, तो उनका यह सोचना भूल है कि उनमें एकके लिए दूसरा कल्पनाओं, सपनों, इच्छाओंके अनुकूल यानी सौ फ्रीसदी मनपसन्द होगा। इस भूलके कारण लाखों हृदय घायल पड़े हैं और जीवन बिखर गये हैं। असलमें प्रश्न अनुकूल-मनपसन्द साथी पाने-का नहीं, बनानेका है और दूसरेको अपने अनुकूल बनानेका तरीका राजा जार्जकी प्रार्थनामें है कि हम कुछ बातोंको बदल लें और कुछको सह लें।

अच्छा तो अब आपकी समझमें मेरी बात आयी कि आकर्षक घर वह है, जिसमें रहना; यानी रहनेवालोंके मनमें हमेशा रहनेकी भावना है और सहना; यानी दूसरेकी नापसन्द आदतोंको सहनेकी भी भावना है, पर एक बात और बताऊँ मैं आपको कि आकर्षक घरकी एक कुंजी रहना और दूसरी सहना है, तो तीसरी कहना है।

“कहना ! क्या कहना ? यह एक नयी पहली आपने आरम्भ कर दी भाई साहब ?”

जी, यह कोई पहली नहीं, यह तो आकर्षक घरका एक महत्वपूर्ण पहलू है ! लीजिए, उसे आपको एक उदाहरणसे समझाता हूँ, “बाबू बलदेवदासको तो आप जानते हैं।”

“कौन बलदेवदास ?”

“अरे, बलदेवदासको भी आप भूल गये ? वे ही हेडमास्टर साहब ! पहले एक हाईस्कूलमें हेडमास्टर थे, पर आजकल अपना स्कूल चलाते हैं। आप तो जानते ही हैं कि यह कोई आसान काम नहीं है। छह घण्टे पढ़ाना ही पसीने ला देता है, फिर स्कूलका प्रबन्ध। आज ये मास्टरजी रूठ गये,

तो कल वे भाग गये । आज इस बलासमें लड़के कम, कल उसमें । इस महीने फरनीचर टूट गया, तो उस महीने मकानके किरायेका झंझट—एक-न-एक झमेला जानको लगा ही रहता है । स्कूल जाते हैं, तो घबराये हुए-से और लौटते हैं, तो परेशानीसे चकनाचूर ।

उम दिन वे ऐसी ही हालतमें घर पहुँचे और चायका प्याला मुँहसे लगाया ही था कि श्रीमतीजीने आँखें तरेरकर पूछा, “वे चावल तुमने आज भी नहीं भिजवाये, न गुड़ ही भिजवाया, तुम काहेके हेडमास्टर हो; सौ लड़के तुम्हारे मदरसेमें पढ़ते हैं, जिसके कान ऐंठो, वही काम करे, पर काम तो तब हो, जब तुम्हें चिन्ता हो । तुमने तो समझ रखा है कि मेरे भीतर खूनके कुएँ भरे हैं पियो, खूब पियो; जिस दिन मर जाऊँगी, भूल जाओगे मदरसा चलाना !”

“अच्छा कल भेज देंगे, घण्टा-भर तो चैन लेने दिया करो ।” ठण्डे स्वरमें हेडमास्टर साहबने कहा, तो श्रीमतीजी स्वरको और भी ऊँचा कर बोलीं, “हाँ-हाँ, आपको चैन कहाँ ? चैनके लड्डू तो मैं फोड़ती हूँ । जबसे इस घरमें आयी, एक दिन मनका खाया नहीं, पहना नहीं, हाड़ झोंककर सबका पेट भरा । कोई मेम साहब मिलती, तो पता चलता मास्टर साहबको !”

कहते-कहते श्रीमतीजीका चेहरा तमतमा उठा और आँखोंमें आँसू छलक आये—वे धमधम करती उठकर चली गयीं । मास्टरजी कहने लगे, “स्कूलमें जाओ, तो हाय हाय, घरमें आओ तो हाय हाय; क्या मनहूस जिन्दगी है ?”

अच्छा बताइए, क्या बलदेवदासजीकी श्रीमतीने कोई अनुचित—नामुना-सिब बात कही थी ? घरमें सामान न हो, तो वे प्रबन्ध कैसे करें ? उन्होंने चावल और गुड़ लानेको ही तो कहा था, पर रहना, सहनाके साथ कहना-का यही तो तत्त्व है कि हम क्या कहते हैं, इसकी कोई क्रीमत नहीं, क्रीमत इस बातकी है कि कब कहते हैं और कैसे कहते हैं ? श्रीमतीजी आते ही

अपनी बात न कहतीं और दूसरी भाषामें कहतीं, तो मास्टरजीमें चाय पीकर चावल-गुड़ स्वयं खरीद लानेका नया उत्साह पैदा हो जाता, पर बेवक़्त और बेढंग होनेके कारण वही बात दुःखकी जड़ हो गयी । इसलिए भाई मेरे, रहना, सहना और कहनाकी कुंजियाँ अपने पास रखिए और आरामसे अपने आकर्षक घरमें रहिए ।



घर : एक रसायनशाला !

“मैं घर-गृहस्थीकी सफलतापर इतना जोर क्यों देता हूँ ?” आप तो यह प्रश्न कुछ इस तरह पूछ रहे हैं, जैसे मैं आपके भले और भोले बेटेको सिगरेट पीना सीखनेकी बात कह रहा हूँ। अरे भाई, असली बात यह है कि हर मनुष्य अपने जीवनमें सफलता चाहता है, सुख चाहता है, पर सुख, सफलता उसे मिलती है, जिसका मानसिक सन्तुलन पूरी तरह कायम हो और यह हम बातपर निर्भर करता है कि उसका घर आकर्षक हो, मनके अनुकूल हो, उसमें सुख-शान्ति हो। इस तरह एक घरकी सफलता पूरे जीवनकी सफलताका शिलान्यास है, कुंजी है। इस बारेमें सौ बातोंकी एक बात समझ लें आप कि यदि किसीका घर आकर्षक है, सफल है, तो वह हर्षके दिनोंमें ही नहीं, संघर्षके दिनोंमें भी शान्त-सुखी रह सकता है; यही नहीं उस संघर्षको जीत सकता है।

“आप तो जिस आदमी या बातको पकड़ते हैं, उसकी तारीफ़ोंके पुल बांध देते हैं भाई साहब !”

मैं पुल बांधता हूँ ? सचमुच आपकी यही राय है ? पर यह तो बताइए, क्या आप पुल तोड़ते हैं ? आपको यह भी पता है कि हजारों-लाखों साल हुए नल-नीलने रामकी विजय-यात्राके लिए एक पुल बनाया था। लोग आज तक उनका नाम गाते हैं, तो पुल बनाना कोई साधारण या हलका काम नहीं है। फिर जिस युगमें आप जी रहे हैं, वह युग है ही सड़कों और पुलोंका। देखते नहीं कि देशमें किस तेज़ीसे सड़कें और पुल बनते हैं चारों तरफ़ और उनसे शहरों, कस्बों, गाँवों, जंगलों और पहाड़ों-को देशके केन्द्रसे उसी तरह जोड़ा जाता है, जैसे शरीरकी नस-नाड़ियाँ अंग-अंगको ? दयसे जोड़ देती हैं, पर मैं पुल नहीं बांधता, जीवनकी

सचाइयोंको उभारता हूँ और जीवनकी एक सबसे बड़ी सचाई यह है कि घरकी सफलता, उसका आकर्षक होना, जीवनकी सौ सफलताओंकी एक सफलता है। अच्छा, अब छोड़िए पुलकी बातोंको और पुलियाकी बात सुनिए। उस पुलियाका वह दृश्य देखकर ही मैंने उस दिन जाना था कि आकर्षक घर क्या है ? और मनुष्यकी वह कितनी बड़ी शक्ति है।

देशके बँटवारेक दिनमें सुदूर पंजाबके एक भाई हमारे मुहल्लेमें आकर टिके। मिलनेपर पता चला कि जन-धनकी काफ़ी हानि सहकर वे अपनी पत्नीके साथ खाली हाथों यहाँतक पहुँचे हैं। तीन-चार दिन बाद देखा कि वे चौराहेकी पुलियापर एक छोटी-सी टोकरीमें दो-चार पपीते रखे बैठे हैं और पपीतेको छोलकर, पत्तेपर काटकर, उसमें नमक, मिर्च, मसाला छिड़ककर, उसकी चाट-सी बनाकर बेच रहे हैं।

मनमें बड़ी कचोट हुई कि बेचारे क्या थे, क्या हो गये हैं। सम्पर्कके भावसे मैं भी उनका ग्राहक बन गया और दो आनेका पत्ता माँगा। उन्होंने एक इञ्जीनियर-जैसी सावधानीसे एक पत्ता साफ़ कर, चाकूसे पपीता छोला-काटा और उसपर बड़े करीनेसे मसाला छिड़का-बुरका। मैं आश्चर्यसे देखताका-देखता रह गया कि यह काम करते समय वे मग्न भावसे एक गीत-सा गाते रहे,

“मीठा माल खिलायी जाँदा
मीठे में नमक मिलायी जाँदा
माइयाँ दा स्वाद बढ़ायी जाँदा
और अपनी भी रोटी चलायी जाँदा”

सिनेमाकी गीतोंकी तरह मौक़ेपर चुस्त-चस्पाँ भाव और मस्तीमें मचलते-से भीने स्वर, बड़ा अजीब-सा लगा और मनमें प्रश्न उठा, ये न स्वामी रामतीर्थ हैं, न ज्ञानानन्द, फिर संकटकी इन घड़ियोंमें भी इनकी इस मस्तीका रहस्य क्या है ?

उन्हें देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था। आप देखते, तो यह प्रश्न आपके मनमें भी उठता या नहीं ?

“जरूर उठता, उठता क्यों नहीं ? जब रोज़ रोज़ की परिस्थितियोंमें कोई गाना गाये, तो जिज्ञासा जागेगी ही कि क्या बात है यह ?”

ठीक है आपकी बात, मेरे मनमें भी जिज्ञासा जागी, पर इस बारेमें उनसे कुछ पूछना न लाभदायक था, न उचित । बस, मैं रोज़ उन्हें गीत गाकर पपीतेकी चाट बनाते देखता और अपना प्रश्न अपने ही भीतर दोहराता । एक दिन मैंने देखा कि उनके पास आकर उनकी ही उम्रकी एक स्त्री खड़ी हुई । उसने अपने आँचलसे एक कटोरदान निकालकर उनके पास रखा । तब वह पासके नलसे उस कटोरदानके ढक्कनमें पानी भर लायी और टोकरीके पास ही ढंगसे खाना और पानी रख दिया ।

वे खाना खाने लगे और वह स्त्री उन्हें पंखा झलने लगी । तभी आ गया एक ग्राहक, तो उस स्त्रीने पपीता छील-काटकर, मसाला छिड़ककर, पत्ता उसे दे दिया, पर यह सब काम उसने एक हाथसे किया, दूसरेसे पंखा झलती रही । बादमें पानी लाकर उसने उनके हाथ धुलाये और उसी पुलियापर अँगोछा बिछाकर थोड़ी देर उनको आराम करा दिया । कुछ देर बाद वे बैठ गये और वह चली गयी ।

मैं इस सारी घटनाको बहुत ध्यानसे देखता रहा और तब मैंने सोचा, घर-गृहस्थीकी शान्ति ही इस आदमीकी मस्तीका रहस्य है और सब कुछ नष्ट हो जानेपर भी इनका घर आकर्षक है ।

एक दिन जब वह स्त्री उनके पास खड़ी थी, तो मैंने उनसे पूछा, “ये आपकी श्रीमतीजी हैं ?” खुशीसे भरे स्वरमें वे बोले, “अजी, श्रीमती क्या, अन्धेकी लाठी है ।”

बरसों बीतनेपर भी घरकी आकर्षकता, मधुरता और शक्तिका यह दृश्य मेरी आँखोंमें ममाया हुआ है । कहा तो, घरकी सफलता गरीबी और संघर्षकी ही नहीं, जीवनकी शक्ति है । अपने घरमें सन्तुष्ट-सुखी मनुष्य अच्छे सेनापति, अच्छे इञ्जीनियर, अच्छे साहित्यकार और अच्छे व्यापारी

हो पाते हैं; क्योंकि घरका सन्तुलन उन्हें अपने काममें पूरी योग्यता और लगनसे जुटनेकी शक्ति देता है और उनके सामाजिक व्यवहारको मधुर बना, उन्हें लोकप्रिय होनेके साधन सुलभ करता है।

“क्यों जी, घरके आकर्षणकी, यानी घरको आकर्षक बनाये रखनेकी मुख्य जिम्मेदारी किसकी है?”

बहुत अच्छा प्रश्न है आपका, पर मैं इस एक प्रश्नके दो उत्तर दूँगा। पहला यह कि घर स्त्री-पुरुष दोनोंका है, इसलिए उसे आकर्षक बनाये रखनेको जिम्मेदारी दोनोंकी है और दूसरा यह कि घरको आकर्षक बनाये रखनेको जिम्मेदारी स्त्रीकी ही है।

“आपका यह दुरंगा उत्तर तो खूब रहा कि घरको आकर्षक बनाये रखनेको जिम्मेदारी दोनोंकी है और यह जिम्मेदारी स्त्रीकी ही है।”

उत्तर दुरंगा नहीं है, यदि हम उसे समझ लें और समझनेकी बात यह है कि घर-गृहस्थीकी गाड़ी जिस सड़कपर चलती है, वह शहरकी सपाट सड़क नहीं है, जंगलकी ऊबड़-खाबड़ राह है। उसमें दक्के-झटके लगते ही रहते हैं। इसके लिए सावधानीकी जरूरत है कि हम उन गड्ढोंसे बचें, जिनसे दक्के-झटके लगते हैं और फिर भी झटका लग ही जाये, तो हम उसे इस सफ़ाईसे सह लें कि हमारी गाड़ीका पहिया न टूटे, वह फिर राहपर चलने लगे और चलती रहे।

इस राहका एक बड़ा गड्ढा है, गुस्सा। वह आया कि गाड़ी तिरछी हुई। स्त्री-पुरुष दोनों ही उससे बचें, यह दोनोंकी जिम्मेदारी है, पर गुस्सा कोई योजना नहीं है कि उसे सोच-समझकर बुलाया जाये, तभी वह आये। वह आदमीकी मजबूरी है कि अनचाहे-अनकहे ही आ कूदे, तो दोनोंकी जिम्मेदारी है कि एकको गुस्सा आ जाये, तो दूसरा उसे अपने साथीकी बोमारी, मजबूरी समझे और स्वयं शान्त रहे। यह भी न कर सके, तो दोनोंकी जिम्मेदारी है कि उस गुस्सेको घरमें टिकानेका, स्थायी मेहमान बनानेका कोई अवसर न दें।

गुस्सेके बारेमें लाभकी बात यह है कि गुस्सा अस्थायी चीज है। आता है, भभकता है, पर थोड़ी देर बाद ढल जाता है और गुस्सेके बारेमें खतरेकी बात यह है कि मनमें ढलकर भी वह मुँहपर और मुँहमें बना रहता है।

दोनों ही उसे हटाना चाहते हैं, पर अहंकार कहता है, मैं ही पहले क्यों करूँ? स्त्रीकी जिम्मेदारी है कि वह इस अहंकारको पुरुषसे पहले लाँघकर गुस्सेको घरसे भगानेकी बाजीका पाला जीत ले; क्योंकि ऐसे मौकेपर जीत उसकी होती है जो दूसरेके व्यवहारकी तरफ़ ध्यान न दे, एकतरफ़ा कार्यवाही करनेको तैयार हो जाता है।

“वाह साहब वाह, यह तो स्त्रीकी हार है कि गुस्सा चाहे कोई भड़काये, पर बोलचाल हमेशा वही आरम्भ करे, क्या स्त्री पुरुषकी गुलाम है?”

नही भाई, नहीं, स्त्री पुरुषकी गुलाम नहीं है, पर यह उसकी हार नहीं, हारकर जीतनेकी कला है। कलाकार श्री यशपालने अपनी एक कहानीमें कहा है कि स्त्री यदि जीतना चाहती है, तो उसका उपाय है हारते चले जाना। उसकी अपनी इच्छा कोई न हो, उसकी अपनी राय कोई न हो, तो वह सुखी रह सकती है, परन्तु यह सुख कैसा? यह जीत कैसी? ऐसी कि जीतनेकी इच्छा कभी न करे, अपनेको कुछ न समझे।

कलाकारकी इस बातको समझनेकी जरूरत है और समझना यह है कि यह छोटे-बड़ेका, गुलाम-मालिकका और हार-जीतका प्रश्न नहीं है, यह तो युद्धका एक दाव है, हारकर जीतना। बात यह है कि अहंकारमें पुरुष सिंह रहता है और अहंकारके तूफ़ान होनेपर स्त्रीकी पुचकार चाहनेवाला मृगछोना हो जाता है, ऐसा मासूम कि जहाँ चाहो इशारेसे बैठओ, जहाँ चाहो अँगुली पकड़कर घुमाओ, और जो चाहो उससे काम लो।

आइए इस बातकी ज़रा और गहराईमें उतरें; क्योंकि घरको आकर्षक बनानेका बहुत बड़ा तत्त्व इसीमें समाया हुआ है। बात यह है कि पुरुषकी

मूल वृत्ति है अहंकार और उसकी सबसे बड़ी मानसिक भूख ही यह है कि कोई उसके अहंकारको सहलाये, पोषण दे। घरसे बाहर इस अहंकारपर बार-बार चोटें पड़ती हैं; क्योंकि वहाँ अहंकारसे अहंकार टकराता है। स्त्रीकी विषय इसमें है कि वह अपने घरको ऐसी रसायनशाला बना दे कि जहाँ पुरुषके इस टकराये और घायल अहंकारको तुरन्त ताज़गी और स्वस्थता मिल सके।

“अजी साहब, आपने यह उपदेश तो झाड़ दिया कि स्त्री घरको ऐसी रसायनशाला बना दे और वैसी रसायनशाला बना दे, पर यह भी तो बताइए कि वह बेचारी इसके लिए क्या करे और इस रसायनशालामें कौन-से यन्त्र लगाये ?”

मैं आपके इस प्रश्नका स्वागत करता हूँ, पर आप यह जानकर खुश होंगे कि इस रसायनशालामें किसी यन्त्रकी आवश्यकता नहीं है।

“तो फिर किस चीज़की आवश्यकता है इस रसायनशालामें ?”

इस रसायनशालामें यन्त्रकी नहीं, तन्त्रकी आवश्यकता है। जानते हैं आप तो बाबू ठाकुरप्रसादको। सुबह-ही-सुबह उस दिन उन्होंने अपनी पत्नीके साथ प्रोग्राम बनाया कि शामको दफ़्तरसे लौटकर सिनेमा चलेंगे, पर उस दिन जाने क्या बात हुई कि हेड क्लर्क भी उनपर बरसे और बड़े साहब भी। उनका अहंकार खूब घायल हुआ, पर दफ़्तरसे शामको घर जाते ही जब उन्होंने मरे-से जी से पूछा कि सिनेमा चलोगी ? तो पत्नीने कहा, “अगर तुम कहो, तो जरूर चलेंगे।” तब उन्होंने पूछा, “किस पिचरमें ?” पत्नीने कहा, “जिसमें तुम कहो।”

बस इन दो उत्तरोंमें ही बाबू ठाकुरप्रसादका घायल-चुटीला अहंकार ताज़ा हो गया, “ओह ! जो मैं कहूँ, जो मैं चाहूँ, वही सबकी मरज़ी है।” यह है घरकी रसायनशालाका तन्त्र। इसका फ़ार्मूला यह है कि नारी पुरुषके अहंकारपर चोट न करे और वह बाहर चोट खा जाये, तो उसे सहलाकर तुरन्त स्वस्थ कर दे।

अच्छा आइए अब महाकवि जयशंकर प्रसादकी चार पंक्तियाँ सुनाकर अपनी बातचीत समाप्त करें, जिसमे आकर्षक घरका एक बहुत ही आकर्षक विधान सुरक्षित है,

“बच्चे बच्चों से मिल खेलें,
हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हों सुदित,
भरा हो मंगल उनके जीवन में,
बन्धुवर्ग हों सम्मानित,
हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन,
तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ?”



आकर्षण एक, मध्यबिन्दु दो

जेबुन्निसा थी सम्राट् औरंगजेबकी लाइली बेटी और उसका प्रीतिपात्र था गुस्लखानेका एक मामूली दारोगा, यों कहूँ कि कैलाशका स्वर्ण-शिखर अन्धकारपूरित खड्डके अन्तरपर न्योछावर हो गया था !

क्या मानवीय सम्बन्धोंके इतिहासकी यह घटना साधारण है ? फिर जेबुन्निसा कोई अपवाद न थी । इस तरहकी घटनाएँ सुलभ न हों, दुर्लभ तो कहीं नहीं हैं और वे एक भीना और पैना प्रश्न खड़ा करती हैं, नारी नरके किस गुणपर न्योछावर होती है ? उसके प्रणयाकर्षणका मध्यबिन्दु क्या है ?

जेबुन्निसा और दारोगाका प्रणय दूबकी जड़ों-सा फैल रहा था, पनप रहा था भीतर-ही-भीतर, पर बाहर भी उसकी कानाफूसी थी, यहाँ-तक कि कानोंकान यह औरंगजेबके कान तक भी जा पहुँची थी । जीभ लाख चुप रहे, दाँतोंमें दबी रहे, पर आँखें तो पलकोंकी ओट भी चोट करनेमें नहीं चूकतीं । उनमें रोशनी तो रोज़ दिखायी देती है, पर जब उनमें शरबत घुलता है, तो बिना जीभका दिल भी दुनियाकी अदालतमें बिन-बुलाया गवाह बनकर आ खड़ा होता है और चारों ओर फैले गूंगे दिल उसकी बात सुन-समझ लेते हैं !

दुनिया भेदभावोंसे भरी है । सन्तोंने लाख-लाख यत्न किये, वे नहीं टूटे, पर जीभके विश्वासघातसे कौन-सा भेद-रहस्य है, जो नहीं फूटा ? खबरें पहुँचतीं, औरंगजेब बोखलाता, 'उस कमीनेकी यह हिम्मत !' उसकी प्यासी तलवार दारोगाकी गरदन नापनेको बेचैन हो उठती, पर अवसर न पाती, उसकी खोजमें अकुलाती । आ गया उस दिन यह अवसर; भेदिया दासीने सूचना दी, दारोगा शाहजादीके भवनमें है ।

गुस्सेसे भरे बादशाह भवनकी ड्योढ़ीतक आये कि भीतर खलबली मची — दारोगाको कहाँ छिपायें ? पासके गुस्लखानेमें चाँदी-सोनेके कामकी बड़ी अँगोठीपर पानीसे आधी भरी एक बड़ी देग रखी थी । जेबुन्निसाने उसमें दारोगाको बँठाया और ढक्कन ऊपर रख दिया । और कोई रास्ता ही न था !

बादशाह बेटीका भवन देखनेके बहाने आँखों-ही-आँखोंमें ईंट-ईंट देख गये, पर वह तो कहीं दिखायी ही नहीं दिया, जिसे देखने वे यों दौड़े चले आये थे । उन्होंने भेदिया बाँदीकी तरफ़ घूरा कि उसने देगको आँखोंके तारसे पूर दिया । अब रहस्य और दुश्मन दोनों औरंगजेबकी मुट्ठीमें थे, पर वह सिपाही था, तो शासक भी था । उसके भीतर अटखेलियाँ करते सिपाहीने कहा, “ढक्कनके एक सिरेसे घुसाकर दिमाग़ और दिलको उधेड़ती शमसीर देगकी तली तक पहुँचा दी जाये कि बस !” पर औरंगजेबका शासक उसके सिपाहीसे अधिक क्रूर था — “दुश्मनका यह क्या मरना कि छुनसे कोयला-सा बुझ जाये; नहीं, वह यों मरे कि मरनेका पूरा मज्जा ले !”

“बेटी, तुम अभी नहायी नहीं ?” बादशाहने यूँ ही साधारण ढंगसे पूछा, तो जेबुन्निसा कुछ आश्वस्त हुई, “अभी कुछ देरमें नहाऊँगी, मेरे अब्बा !”

“नहीं हमेशा वक्तपर नहाना चाहिए ।” और उन्होंने अँगोठीमें आग जलानेका हुक्म बाँदीको दिया कि आग जली । अँगोठीमें क्या आग जली, जेबुन्निसाकी जिन्दगीमें ही आग जल उठी — ऐसी आग, जो एक बार जलकर फिर कभी नहीं बुझती, पर बादशाहके लिए वह आग ठण्डी थी — “और तेज़ करो बाँदी !” और आग और तेज़ हो गयी थी, पर उसने फिर भी कहा था — “और लकड़ी ज़ोंको, डरो मत !” और इस तरह आग भड़कती रही, बादशाह खड़ा रहा, उसकी आँखें ढक्कनपर लगी रहीं, पानी पकता रहा, उफनता रहा और जब उसने समझ लिया कि भीतरका आलू उबलकर पिचपिचा हो चुका है, प्रेमकी ज्वाला बुझ चुकी है, तो वह जैसे आया था, वैसे ही चला गया; सब कुछ करके, पर बिना एक भी शब्द कहे !

नीचे आग, आगे-पीछे आग, चारों तरफ़ आग ही आग, पर इतना सन्तुलन, अपने ऊपर इतना क़ाबू ! हमारे पैरके नीचे एक चिनगारी आ जाती है, तो हम उचक उठते हैं, पर दारोगाके सिरने एक बार भी देगका ढक्कन नहीं छुआ; अपनेपर ऐसा नियन्त्रण ! दारोगा उचककर सिर बाहर निकालता, तो निश्चय ही वादशाहकी तलवार एक ही झटकेमे उसे घड़से अलग कर देती, पर मरना तो उसे था ही । इस तरह वह उस ज्वालासे तो बच जाता, जिसने अपनी जलनकी तीव्रतामें सीताकी अग्नि-परीक्षाको भी मात कर दिया, पर वह अडिग रहा, अकम्प रहा, उसने अपनी प्रियतमाके रहस्यका स्फोट नहीं होने दिया !

क्या यह कोई साधारण दृढ़ता है ? नहीं, यह दृढ़ता अपनेमें ही नहीं, इतिहासमें अनुपम है और इस दृढ़तामें ही एक साधारण राज-कर्मचारीके प्रति एक सर्वोच्च शाहजादीके आत्मसमर्पणका रहस्य छिपा हुआ है । नरके प्रति नारीके प्रणयाकर्षणका मध्य-बिन्दु यही दृढ़ता है और नारीकी भाषामें इसे ही पौरुष कहते हैं ।

युद्धके लिए वीर घरसे जाते, तो पत्नी उनके माथे रोलिका तिलक देती, माला पहनाती; यह क्या है ? यह है पुरुषसे पौरुषकी माँग, पर पुरुष युद्धसे घबराकर घर लौट आता, तो पत्नी घरका द्वार बन्द कर लेती, मिलनेसे साफ़ इनकार कर देती; यह क्या है ? यह है पौरुष-हीनताके प्रति नारीकी घृणाका प्रदर्शन । विजयकी सब सम्भावनाएँ समाप्त हो जातीं और पुरुष मानके साथ मरनेके लिए घरसे निकलता, तो पत्नी उससे पहले ही चित्तामें जीवित जल राख हो जाती; यह क्या है ? यह पौरुषको नारीका आश्वासन है, अभय-दान है ।

यह पौरुष, पुरुषकी यह दृढ़ता ही नारीके प्रणयका विश्राम-केन्द्र है, इसीकी छायामें पहुँच वह वास्तविक शान्ति और सुखका अनुभव करती है और इसीके बिना वह सब कुछ पाकर भी भूखी-अधूरी बनी रहती है । जेबुन्निसाने गुस्लखानेके मामूली दारोगामें यही पौरुष देखा था और वह

अपनी पदमर्यादा भूलकर समर्पित हो गयी थी। यह समर्पण इतना गहरा और गम्भीर था कि इस घटनाके बाद भी वह अपने शहीद पुरुषके प्रति समर्पित ही रही और उसने विवाहके किसी प्रस्तावपर कभी विचार तक नहीं किया। उसके सामने सौन्दर्य और वीरतामें अद्वितीय राजकुमारोंके अलबम दो बार रखे गये, पर उसने उनकी ओर एक पलक भी कभी नहीं रखा, उनमें-से किसीके बारेमें कभी एक शब्द भी नहीं पूछा-सुना।

अँगरेजीका कवि बायरन नारी-चरित्रका विशिष्ट पारखी था। उसने अपनी एक कवितामें नारीकी चाह स्वयं उसके मुँहसे कहलायी है - “पुरुषके हृदयकी दया, प्रेम, सहृदयता और उदारता हमें क्या खाक प्रभावित करे ? इन गुणोंका अक्षय भण्डार तो हम नारियाँ ही हैं। इनके कुछ जूठे टुकड़े हमीं तो उसे दे, कृतार्थ करती हैं ! और सौन्दर्य ? पुरुषके ऊबड़-खाबड़ व्यक्तित्वमें सौन्दर्यके लिए स्थान ही कहाँ है कि वह उससे किसी नारीको प्रभावित करे। हाँ, आँधी और तूफानोंके बीच, जहाँ हम काँप उठती हैं, वहाँ बिना हिले, बिना घबराये और बिना काँपे, अपनी जगह खड़े रहनेकी क्षमता पुरुषमें है और उसीके लिए अपने सर्वस्वकी भेंट हम उसके चरणोंमें समर्पित करती हैं।”

जो जलनसे डरे, वह उफनती दावाग्निको हृदयमें कैसे समाये ? जो भौतिके सागरको अपने हाथों तैर जानेकी दृढतासे हीन हो, वह प्रीतिके पुष्पको अपने चरणोंमें कैसे पाये ? अभय ही तो प्रणयके समर्पणका पात्र है। सागरमें सरिता समाती, नारी अपनापन खोकर नरके प्रति उत्सर्ग होती है, इसी रूपमें। अपनेपनको नारी नहीं संभाल पाती और देवताओंकी इस धरोहरको अपने पुरुषके हाथों सौंप, वह कृतार्थ होती है। दिन-भरके हाड़-तोड़ परिश्रमके बाद, शामको पुरुषकी एक मोठी मुसकान पा, विभोर हो जानेवाली नारीके आनन्दका मोल आँकनेमें क्या संसारका अर्थशास्त्र कभी सफल होगा ?

अपने समयमें इटलीका सर्वेसर्वा मुसोलिनी नारीके इस मानसिक तत्त्वज्ञानको जानकर ही तो कहा करता था कि “जनता नारी है और वह स्वेच्छासे अपने ऊपर एक सबल और दृढ़ पुरुषका शासन चाहती है ।” प्रेमचन्दने अपनी कहानी ‘दो सखियाँ’ में, विश्वम्भरनाथ शर्मा ‘अमोघ औषध’ में और आचार्य चतुरसेनने ‘पौरुष’ में नारीकी इस आकांक्षाका सबल चित्रण किया है, पर मार्कण्डेय पुराणकी दुर्गा सप्तशतीमें इसका जो चित्रण हुआ है, वह शायद सारे ही संसारके साहित्यमें अनुपम है :

भगवतीके दिव्य सौन्दर्यकी चर्चा अपने दूतसे सुनकर दैत्यराज शुम्भ दूत-द्वारा ही अपने प्रणयका प्रस्ताव भगवतीके पास भेजते हैं, तो वे कहती हैं, “मुझे यह स्वीकार है दूत, पर समर्पणकी मेरी एक शर्त है —

“यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति ।

यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति ॥”

“जो मुझे संग्राममें जीते और मेरे अभिमानको चूर-चूर कर दे, वही मेरे जीवनकी भेंट ग्रहण करेगा । कोई आये और मेरे बलका निमन्त्रण स्वीकारे । ‘यो मे दर्पं व्यपोहति’ जो मेरे दर्पको, सर्वश्रेष्ठताके मानको, व्यपोहति, धोखे-धड़ीसे नहीं — विशेषताके साथ समेटकर, निःशेष करके, अपनेमें समा ले, जिसका पौरुष मेरे दर्पको पीकर भी इतराये नहीं, वही मेरे दानका पात्र है । इससे कममें अपने रूप-वैभवके सुहावने गीत सुनाकर कोई मुझे पा ले यह सम्भव नहीं है ।”

विक्टोरिया इंगलैण्डकी महारानी और अपने समयकी एक विभूति और लारे इंगलैण्डका एक प्रतिष्ठित नागरिक, दोनोंकी पद-प्रतिष्ठामें जमीन-आसमानकी दूरी, पर प्रणयकी प्यासने पानीकी दूरीपर कब ध्यान दिया है ? लारे विक्टोरियाका प्रणय पानेको उत्सुक, पर मन माने न माने, दूरी आखिर दूरी, एक शिखर तो दूसरा खड्डा । अपनी बात वह कैसे कहे और कह दे, तो कौन जाने क्या हो — विक्टोरिया यों कि उसकी पलकोंका एक बाल भी तिरछा हो जाये, तो लारे फाँसीपर झूलता नज़र आये ! बेचारा

मनसे मजबूर, तो भयसे चूर; करे तो क्या करे ? चाहकी तीव्रता बुद्धिकी प्रेरक है। उसे एक बात सूझी कि प्रार्थनाके दिन उसने जल्दी वर्च पहुँचकर, जहाँ विक्टोरिया बैठती थी, उस खिड़कीपर लिखा, “मैं चढ़ना इसलिए नहीं चाहता कि कहीं गिर न पड़ूँ !” विक्टोरियाने उसे पढ़ा, समझा और उसके नीचे लिखा, “जिसमें आत्मविश्वास न हो, उसे चढ़नेका अधिकार ही नहीं है।”

ठीक तो है, जिसमें आत्मविश्वास नहीं, अटूट दृढ़ता नहीं, वह नारीका तन लाख पा ले, उसके मनका अधीश्वर कहाँ हो सकता है ?

यहीं यह भी देख लें कि नारीके प्रति नरके प्रणयाकर्षणका मध्यबिन्दु क्या है ? आरम्भमे पुरुष शिकारी था, अब व्यापारी है; पर न शिकार सरल है, न व्यापार ही — दोनोंमें जोड़-तोड़की जरूरत है, दोनोंमें उलझनें आती हैं, उन्हें सुलझाना पड़ता है — दोनोंमें छल होते हैं, उनसे बचना पड़ता है। इसीलिए पुरुषकी एक प्रबल वृत्ति है सन्देह। उसका जीवन कुछ यों चलता है कि चारों ओर उलझनें, चारों ओर सन्देह ! वह एक ऐसा स्थान चाहता है, जहाँ सन्देह-हीन होकर, निश्चिन्त होकर, वह विश्राम कर सके, नारीका सरल हृदय ही वह स्थान है।

एक वीर कहा करता था कि मुझे पृथ्वीसे अलग एक पैर रखनेकी जगह दे दो, मैं सारी दुनियाको हिला दूँगा। यह पुरुषके संघर्षशील मनका सर्वोत्तम चित्र है और वह जगह है नारीका सरल हृदय। इस प्रकार नारीकी सरलता ही पुरुषके प्रणयाकर्षणका मध्यबिन्दु है।

राहपर खड़ी एक उदास नवयुवती और उसके एक हाथमे कबूतर। उधरसे आ निकले बादशाह। यों ही पूछा, “क्या बात है ? क्यों उदास हो ?”

बोली, “मेरा एक कबूतर उड़ गया, अब्बा अब नाराज होंगे ?”

“अच्छा डरो मत, हम तुम्हें दूसरा कबूतर दिला देंगे, पर तुम्हारा कबूतर उड़ कैसे गया ?” बादशाहने यों ही पूछा, तो नवयुवतीने अपने

हाथकी अँगुलियाँ ढीली कीं और दूसरा कबूतर उड़ा दिया, बोली, “इस तरह उड़ गया।”

कितनी निश्छल सरलता है ! बादशाह मुग्ध हो गये। दिल्लीके बादशाहका तख्त, जिसका हर पाया हजार षड्यन्त्रोंपर टिका। रात-दिन उनसे घिरा, उनको सुलझानेकी उलझन, उनसे बचनेकी सतर्कतामें चौकड़ा बादशाह, इस सरलताका एक ही स्पर्श पा, निहाल हो गया; जैसे सब कुछ पा गया और बस इसी साधारण घटनासे इतिहास नूरजहाँकी सृष्टि करनेमें सफल हो गया ! तो नारी अपने रूपमें आकर्षक है, सन्तानसृष्टिमें पूज्य है, पर वह स्वामिनी अपनी सरलतामें ही है, यहीं वह पुरुषके समर्पणका, उसकी निःशेषताका, अर्घ्य ग्रहण कर अपनी पूर्णता पाती है और पुरुषको पूर्णता देती है !



एकता और सामंजस्यके लिए

“गान्धीजीकी आखिरी वसीयत है आपके पास ?”

बन्धुवर श्री पूर्णचन्द्र विद्यालंकार उस दिन मेरी कोठरीमें आते-आते ही बोले, तो मैंने कहा, “क्या करना है गान्धीजीकी आखिरी वसीयतका ? वह तो लावारिस सम्पत्ति है; क्योंकि जिनके नाम वह की गयी थी, उन्होंने उसे स्वीकार ही नहीं किया !”

पूर्णचन्द्रजी बहुत दूरतक निराश नहीं होते । बोले, “जिनकी उसमें निष्ठा है, उन्हींकी है वह सम्पत्ति, इसलिए वह लावारिस नहीं है । आपके पास हो, तो मुझे दीजिए !”

मैंने मनुबहनकी पुस्तक ‘अन्तिम झाँकी’ उन्हें दी, तो वे मेरी खटियापर बैठ उसे पढ़ने लगे । कभी आँखोंके पास करते, कभी दूर; मुझे लगा कि उन्हें पढ़नेमें असुविधा हो रहो है । पूछा, “क्यों, जेबमें चश्मा नहीं है क्या ?”

“चश्मा ?” वे एक खास मुद्रामे हँसे, “चश्मा तो मैंने लिया ही नहीं है !”

सिद्धान्तवादी आदमी थोड़ा हौलू तो होता ही है, पर उम्रका पचासा पार हो गया और मियाँने चश्मा अभी लिया ही नहीं; बड़ा अजीब-सा लगा मुझे । कहा, “चश्मा तो गान्धीजी भी लगाते थे, फिर आप ही आँखोंकी यह जम्नास्टिक क्यों कर रहे हैं ?”

एक खास मुद्रामें वे फिर हँसे और तब बोले, “यह सिद्धान्तका नहीं, भावनाका प्रश्न है । जब विवाहके बाद दयाजी मेरे साथ आयीं और गाँवमें सेवाका काम करने लगीं, तो मुझे अनुभव हुआ कि उनकी नज़र कमज़ोर है । मैंने उनसे चश्मा ले लेनेको कहा, तो बोलीं, “ग्राम-सेवाका जो जीवन हम लोगोंने स्वीकार किया है, उसमें इस उम्रमें चश्मा लगाना फ़ैशन

समझा जायेगा और गाँवकी सामान्य महिलाओंके साथ तादात्म्य स्थापित करनेमें बाधक होगा। कमजोर दृष्टिसे और भी बहुत-से लोग काम चलाते हैं, मैं भी चला लूँगी।”

उन्होंने चश्मा नहीं लिया और जीवनके पन्द्रह वर्ष यों ही बिता दिये। अब जब कभी मेरे चश्मा लेनेकी बात आती है, तो मनमें प्रश्न उठता है, मेरे जीवन-धर्मके कारण दयाजीने चश्मा नहीं लिया और कमजोर दृष्टिसे ही काम चला लिया, तो क्या मेरा चश्मा लेना उचित होगा? मेरी आत्मा-ने इसपर कभी हाँ नहीं कहा और इसीलिए मैं भी अब दयाजीकी तरह कमजोर दृष्टिसे ही काम चला रहा हूँ।

सुनकर मनमें इतने विचार उठे कि भोड़ लग गयी और उनमें-से किसी-का चेहरा पहचानना ही कठिन हो गया। कुछ देरमें एक विचार साफ़-साफ़ सामने आया, पत्नी तो पागल थी ही पति भी मूर्ख है।

विचार गरम था, उसकी व्याख्यामें भी नरमी न आयी, लोग चश्मा लगानेको फ़ैशन समझेंगे, इसलिए ग्राम-सेवाकी साधना करनेवाले कार्य-कर्त्ताकी पत्नीको अन्धा होनेका खतरा मोल लेना चाहिए और क्योंकि पत्नी यह खतरा उठा चुकी है, इसलिए उस कार्यकर्त्ताकी रक्षाकी व्यवस्था सम्भव होते भी सूरदास होनेकी तैयारी करनी चाहिए, क्या जोरदार जोड़ी है !!

मनमें गरमीकी आँधी उठ आयी और मैं जाने क्या-क्या सोच गया। आँधी उड़ा ले जाती है कहीं-से-कहीं और इस समय मेरा मन भी उड़ा जा रहा था कहीं-से-कहीं, तो जा टिका हरद्वारमें। यह हो रहा है १९५० का कुम्भ। कुम्भमें एक प्रबन्धक थे श्री वीरेन्द्र प्रताप साही—सहारनपुरके जिलाधीश। ठीक कुम्भके दिन ज़िलेमें कहीं-कहीं साम्प्रदायिक तनाव हो गया, तो सुबह-ही-सुबह वे वहाँ चले गये। झाँकियोंका समय हुआ, तो मैं उनकी पत्नी श्रीमती गिरिजाकुमारी साहीको उपयुक्त स्थानपर खड़ी एक मोटरमें बैठा दिया, जहाँसे वे झाँकियाँ देख सकें और मेलेके जन-जीवनका अध्ययन करने चला गया।

कोई दो घण्टे बाद में लौटा, तो श्रीमती साही आरामसे बैठी थीं। मैंने पूछा, “कहिए, नागे साधुओंकी झाँकी कैसी रही?” वे चुप और चेहरेपर भी एक अजीब-सा भाव, तो मैंने कहा, “शायद आपको यहाँसे ठीक दिखायो नहीं देता। ठहरिए, मैं यह मोटर कुछ और आगे बढ़वा देता हूँ।”

बोलों, “ना, मोटर तो ठीक है, हमारी आँखें ठीक नहीं हैं।”

“आँखें ठीक नहीं हैं?” मैंने आश्चर्यसे पूछा, तो बोलों, “हाँ बिना चश्मेके काम नहीं करतीं और चश्मा कैम्पमें रह गया है।”

“मैं लाता हूँ आपका चश्मा।” मैंने कहा, तो उन्होंने मना कर दिया, “मैं मँगवा लूँगी, आदमी तो पास है ही।”

निश्चिन्त हो मैं अपने कामपर चला गया और चार बजे लौटा, तो श्रीमती साही अपनी जगह बैठी थीं, पर चश्मा उनकी आँखोंपर नहीं था। आश्चर्यसे मैंने पूछा, “आपने चश्मा नहीं मँगवाया?” बड़ी शान्तिसे उन्होंने उत्तर दिया, “ना!” विस्मयसे मैंने पूछा, “फिर आपने झाँकियाँ कैसे देखीं?” बोलों, “देखी ही नहीं।” मैं परेशान हो गया, “क्यों?” बहुत शान्तिसे बोलों, “महीनोंसे वे (साही साहब) कुम्भके प्रबन्धमें लग रहे थे, पर सूर्योदयसे पहले ही उन्हें जाना पड़ा, तो जब उन्होंने ही झाँकियाँ नहीं देखीं, तो मैं क्या देखती। भगवान्की कृपा है कि चश्मा कैम्पमें ही रह गया।”

सुनकर मन श्रद्धामें डूब गया और सोचा, “ओह, यह है नारीका धर्म, पतिके जीवनमें जीवनका समर्पण, त्यागकी भावना कि पतिको जो सुख प्राप्त नहीं है, उसे पत्नी भी ग्रहण न करे — सुख-दुःख की संगिनी अर्धांगिनी और तभी मुझे याद हो आयी अन्धे राजा धृतराष्ट्रकी पत्नी गान्धारी, जिसने पतिको दृष्टि-सुखसे वंचित देख, अपनी आँखोंपर जो पट्टी बाँधी वह फिर जीवन-भर बँधी ही रही।

आँधी रुक जाती है, तो घुटन महसूस होती है। मैं भी घुट रहा हूँ इस विचारसे कि जिस तर्क-प्रणालीसे, विचार-दृष्टिसे श्रीमती साही और

श्रीमती गान्धारी पवित्र हैं, प्रशंसनीय हैं, उसी दृष्टिसे भी श्रीमती दयाजी और भाई पूर्णचन्द्र प्रशंसनीय क्यों नहीं हैं ?

घुटनके वातावरणमें ताजी हवाका शीतल झोंका आ रहा है, श्रीमती साहीके संस्मरणमें और श्रीमती गान्धारीके इतिहासमें नारीके, पत्नीके उत्सर्गकी दूजका मांगलिक चाँद है, तो दयाजी और पूर्णचन्द्रके निर्णयमें दाम्पत्यकी पूर्णता ही है कि जो एकका है, वही दूसरेका है — कहें जीवनमें जो कुछ है, वह दोनोंका है — द्वैत शारीरिक है, बाहरी है, अद्वैत आन्तरिक है, वास्तविक है — सत्यं, शिवं, अद्वैतम् ।

तर्क बुद्धिका बेटा है और बुद्धि संशयात्मा है । संशय उस साँपकी तरह है, जो चोट खाकर मरते-मरते भी एक बार फन उठाकर फुंकारता है, तो मन जब प्रशंसासे भरा था, निन्दात्मक संशयने सिर उठाया — यह भी कोई बात है कि मूर्ख लोग फ्रैशन कहेंगे, इसलिए एक ग्राम-सेवककी पत्नी चश्मा न लगाये और वह लोक-लाजका शिकार हो ही गयी, तो उसका पति भी अन्धा होनेकी मूर्खताको जीवनकी कोई खास बात समझे ? फिर पति अपने पवित्र कर्त्तव्यका पालन करनेके लिए अचानक चला गया और कुम्भ न देख सका, तो उसकी पत्नी कुम्भमें रहते भी कुम्भ न देखे और इसे अल्ला-मियाँके सेक्रेट्रियेटका करिश्मा बताये !!

संशय विश्वासकी चट्टानमें पहला छेद करनेमें हमेशा सफल हो जाता है, भले ही बादमें पानीपर फैली काँड़ीकी तरह यह छेद फटकर तुरन्त भर भले जाये, तो संशयका इन्द्रजाल सफल हुआ—ठीक तो है कि इन उदाहरणोंमें प्रशंसनीय क्या है, कुछ भी नहीं — सस्ती भावुकता है यह, एकदम विशिष्टताका दम्भ !

“लो, ये कचौरियाँ खा लो !”

“और तुम ?”

“मैं बाज़ारमें ही खा आया हूँ ।”

कहाँ चश्मा, कहाँ कचौरियाँ । ओह, कहाँ-से-कहाँ चला गया ध्यान — मेरे जीवनके कितने मार्मिक क्षण थे वे । दोपहरका भोजन करते समय ही

यह मालूम हो गया था कि घरका अन्तिम खाद्य यही है और दिनमें नया आयात न हुआ, तो शामको उपवास करना पड़ेगा, पर आयातके लिए पैसा चाहिए और पैसेके लिए जीविका। मैं बेकार और घरमें पत्नी एवं दूध-पीती बालिका—खानेवाले तीन मुँह और जेबमें दो आने। रोजगार न हो, तो उधारका सहारा है। आधे दिन घरमें बैठे पत्नीने प्रयत्न किये और बाहर घूमते मैंने, पर उधार अनिश्चित वृत्ति है; क्योंकि उसकी सफलता दूसरेके हाथ है और असफलता भी। संयोगकी बात हम दोनों असफल रहे और शामको जब हम मिले, तो एक दूसरेके प्रति आशान्वित थे, शीघ्र ही दोनों निराशामें साक्षीदार हो गये।

मेरी चिन्ता यह थी कि बच्ची माँका दूध पीती है, इसलिए प्रभाजीको तुरन्त कुछ भोजन मिलना चाहिए। मैं बाजार गया और दो आनेकी दो गरम कचौरियाँ ले आया। १९२७ की बात है, तब एक आनेकी एक कचौरी आती थी। सब्जी-कचौरीका पत्ता मेरे हाथपर और मैं उतना ही खुश, जितना आदिम पुरुष शिकार करनेके बाद 'घर' लौटनेपर होता था :

“लो ये कचौरियाँ खा लो !”

“और तुम ?”

“मैं बाजारमें ही खा आया हूँ ।”

प्रभाजीने अन्तर्वेधी दृष्टिसे मुझे देखा। जिस स्कूलसे मैं दर्जे चार पास, उससे वे मिडिल। बोलों, “तीसरे पहर बहूने मुझे आलूकी पिट्टीके पराँवठे खिला दिये थे। मुझे ज़रा भी भूख नहीं है, इन्हें तुम्हीं खा लो, योंही खराब जायेंगी !”

अपनी बच्चीको अपनेमें समेटे पलंगपर लेटी हुई वे और पत्तेको हाथपर घामे पलंगके पास खड़ा मैं। मेरा आग्रह कि खा लो कचौरियाँ और उनका आग्रह कि खा भी लो — दोनों अटल। मैंने कचौरियोंका पत्ता खिड़कीमें रख दिया और पलंगपर बैठ गया कि अपने आग्रहको बल दे सकूँ। हम एक-दूसरेसे उलझ ही रहे थे कि कचौरियोंका पत्ता खिड़कीसे भूमिपर गिर पड़ा।

दोनोंने उधर देखा, तो एक नया दृश्य कि सन्जी-भाजीका पत्ता जमीन-पर और मुँहमें दोनों कचौरियाँ शानसे लटकाये छज्जेकी तरफ़ भागती बिल्ली । हम दोनोंने एक दूसरेकी तरफ़ देखा और मनपर जाने कैसा प्रभाव पड़ा कि हम दोनों ही खिलखिलाकर हँस पड़े । तब मैंने कहा, “तुमने बहूके घर पराँवठे खानेका झूठ बोला, इसी कारण बिल्ली कचौरियाँ ले गयी; अब जपो रात-भर राम राम !” प्रभाजीने कहा, “तुमने बाज़ारमें कचौरियाँ खानेका झूठ बोला, बिल्ली तो इसलिए कचौरियाँ ले गयी है ।” अब दोनों झूठ रंग बदलकर सच हो चुके थे, इसलिए एक बार फिर हम दोनों खिल-खिलाकर हँस पड़े और इस तरह सो गये, जैसे अभी-अभी मथुराके विख्यात चौबोंकी तरह हम दोनोंने चकाचक मालताल छका हो ! मुझे खुशी थी कि मेरी पत्नी स्वयं भूखी रहकर मुझे खिलाना चाहती थी वे दो कचौरियाँ और मेरी पत्नी गर्वित थी कि उसका पति उसे कुछ खिलानेके लिए अपनी अन्तिम कौड़ी भी निछावर करने और स्वयं भूखा रहनेको तैयार है ।

संस्मरणके आनन्दका ज्वार उतरा, तो सशयके साँपका फन उभरा; यह भी कोई बात है कि मूर्ख लोग फ़ैशन कहेंगे, इसलिए एक ग्राम-सेवककी पत्नी चश्मा न लगाये और वह लोक-लाजका शिकार हो ही गयी, तो उसका पति भी अन्धा होनेकी मूर्खताको जीवनकी कोई बात समझे ? फिर पति अपने पवित्र कर्तव्यका पालन करनेके लिए अचानक चला गया और कुम्भ न देख सका, तो उसकी पत्नी कुम्भ मेलेमें रहते भी कुम्भ न देखे और इसे अल्लामियाँके सेक्रेट्रियेटका करश्मा बताये !!

मैंने अपनेसे कहा, ठीक तो है कि इन उदाहरणोंमें प्रशंसनीय क्या है, कुछ भी नहीं—सस्ती भावुकता है यह; एक दम विशिष्टताका दम्भ !

और इन कचौरियोंमें क्या है ? अन्तिम पूँजीसे खरीदी गयीं दो कचौरियाँ, पर न इसने खायी, न उसने और बिल्ली उन्हें ले गयी ! पहले तो पति बेवकूफ़ कि बाज़ारमें ही न खा आया उन्हें—स्त्रीका क्या, वे तो घरमें सब कुछ होते भी अकसर व्रत-उपवास करती हो रहती हैं । और वह

ले ही आया, तो पत्नी महा वेवकूफ़। वह उन्हें खा लेती, तो क्या कलियुग फट पड़ता ? मर्द तो सदा ही संकट — संघर्षके लिए तैयार रहता है !!

मैंने अपनेसे कहा — ठीक तो है कि कचौरियोंका यह संस्मरण हम दोनोंकी मूर्खताका — अव्यावहारिकताका ही संस्मरण है और यह सौ मूर्खताओंकी एक मूर्खता रही कि हम दोनों उस मूर्खतापर बहुत बार गर्वका-सा सुख अनुभव करते रहे हैं कि उस दिन उन कचौरियोंका न खाना कोई बड़ी बात थी—सचमुच सस्ती भावुकता; एक दम विशिष्टताका दम्भ !

नंगे पैर, कटिमें साधारण अँगोछा और नंगा ऊर्ध्व भाग, यह कौन हँस रहा है खिलखिल-खिलखिल ? अरे, गान्धीजी ? ओह, इन्हें इसी वेशके कारण चर्चिलने अधनंगा प्रकार कहा था ? भला इन्होंने यह अधूरा और अजीब वेश क्यों धारण किया ?

चेतना संस्मरणमें उतर गयी। गान्धीजी देशी जूता, पूरी धोती, ऊपर काठियावाड़ी अँगरखा और सिरपर साफा पहना करते थे। एक दिन उन्होंने एक गरीब महिलाको देखा, जो इतने कम और फटे-पुराने कपड़े पहन रही थी कि कठिनतासे ही उसकी देह ढँकी थी। कहें, वह अधनंगी ही थी ! गान्धीजी ने सोचा—मैं गरीबोंको प्यार करता हूँ, अपनेको उनका सेवक कहता हूँ, पर वे अधनंगे हैं और मैं इतने कपड़े पहनता हूँ ! बस उसी दिनसे गान्धीजीने उन कपड़ोंका त्याग कर दिया और यह अधनंगा रूप धारण कर लिया। उनकी घोषणा थी—जो गरीबोंको, सर्वसाधारणको प्राप्त नहीं है, उसे मैं भी अपने लिए ग्रहण न करूँगा। इसी भावनाके कारण वे रेलकी ऊँची श्रेणीमें यात्रा नहीं करते थे, अँगरेज वाइसरायसे मिलनेके लिए, उनके आग्रह करनेपर भी हवाई जहाजमें न चढ़ते थे और जहाँतक सम्भव हो, एक गरीबकी तरह ही जीवन व्यतीत करते थे।

संशय दुम दबा रहा था। मैंने उसे ललकारा — क्या गान्धीजीके इस त्यागको भी मैं मूर्खता कहूँ ? संशय भाग गया था, दुविधा दूर हो गयी थी और मेरा मन प्रकाशकी किरणोंमें स्नान कर रहा था।

प्रीति दो हृदयोंको एक करती है । वे दो हृदय पति-पत्नीके हों या नेता और जनताके । लकड़ीके दो तख्तोंको एक कर किवाड़ या आलमारी बनानेके लिए बढई जैसे रन्देसे छील-छीलकर दोनोंको सम करता है, वैसे ही प्रीति दो हृदयोंको समान रुचि, समान आकांक्षा और समान दृष्टि देकर एकताके लिए, सामंजस्यके लिए तैयार करती है । प्रीतिका जीवन-सूत्र है—हम वह न चाहें, वह न लें, जो हमारे प्रियको प्राप्त नहीं है, पसन्द नहीं है, अनुकूल नहीं है ।



ये चार साँचे

मोहिनीका विवाह जिस घरमें हुआ, वहाँ सब सुख थे। स्वसुर मिल मालिक थे, पति शिक्षित और अपने कहनेका, देवर भी, जेठ भी; भरा-पूरा घर कि मन शान्त, तो मान परिपूर्ण !

खर्चपर कोई बन्धन नहीं। मोहिनी परचा भेजकर दफ़्तरसे सौ-दो सौ मँगा लेती और जब वे खर्च हो जाते, फिर परचा भेज देती !

समय सदा एक करवट नहीं होता। स्वसुरकी सहसा मृत्यु हो गयी और भाइयोंमें झगड़ा। मिल बन्द कर सब मुक़दमेमे जुट पड़े।

एक दिन पतिने मोहिनीसे कहा, “जैसी परिस्थिति अचानक आ पड़ी है, उसमें उतना खर्च तो मैं तुम्हें दे न सकूँगा मोहिनी।”

मोहिनीने शान्ति और प्रसन्नतासे कहा, “कोई बात नहीं, समयकी धारमें उतार-चढ़ाव तो आया ही करते हैं। आप चिन्ता न करें और खुशी-से जितने रुपये दे सकें, उतने दे दिया करें।”

“अभीतक हम लोग कितना खर्च करते रहे हैं ?” पतिने पूछा, तो मोहिनीने कहा, “यही कोई छह-सात-सौ रुपये मासिक !”

“इतना खर्चा तो बहुत है मोहिनी ! मेरी हैसियत तो अब दो-सौ रुपयेकी है।” पतिने कहा, तो वह बोली, “तो दो-सौ रुपये महीना कुछ कम तो नहीं होते — यों फिज़ूलखर्ची तो चाहे लाखकी कर लो।”

मोहिनी अब दो-सौ रुपये महीनेमें खुशीसे घरका खर्च चलाती है। सब बातोंमें पहलेसे कमी करनी पड़ी है, पर व्यवस्थाकी उत्तमता यह है कि वह सदा और सब मामलोंमें यह कोशिश करती है कि उसके पतिके लिए अब भी सब पहले ही जैसा हो। उनके लिए अब भी वह सन्तरा, सेव, केला ही रखती है, जब कि औरोंको अमरूद भी खिला देती है। अब वह

वनस्पतिका टीन भी मँगाती है, जो पहले कभी घरमें न आता था, पर नमकीन-पराँवठा-पूरीमें ही वह चलता है, दालमें पड़ता है असली ही ।

उसके पतिको खाने-पीनेमें जिन चीजोंका शौक है, उसने अपने लिए भी उन्हें ही शौककी चीज बना लिया है और इस तरह ऐसी व्यवस्था बाँध दी है कि उसके पतिको पहलेमें और अबमें कुछ अन्तर ही दिखायी नहीं देता । कभी-कभी वे आश्चर्यसे पूछा करते हैं, “आखिर इतनेमें यह सब कुछ कैसे कर लेती हो तुम ?”

सुनकर मोहिनी हँस पड़ती है और उस हँसीमें सारा घर एक सुनहरी जोतसे जगमगा उठता है ।

दो

श्यामा ऐसे घर व्याही गयी, जहाँ पुराना वैभव था, जमी हुई खानदानी शान थी । पति शिक्षित, पर महत्वाकांक्षी । उसने उद्योगपति बननेके लिए जितने दोस्त बनाये, दुश्मन निकले और जितने दाव फेंके, उलटे पड़े ।

गरीबी आयी, पर श्यामाके पिताका घर बना हुआ था और श्यामा बापकी लाड़ली थी । बाप अकसर स्वयं आकर ले जाते और काफ़ी दिन अपने पास रखते । पतिके घर भी आती, तो बाप मुट्ठी भर देते; काम चल जाता ।

सौभाग्यसे पतिके सिरसे बड़ा आदमी बननेका भूत उतर गया और उसने बची हुई पूँजी लगा बिसातखानेकी एक दूकान खोल ली । भाग्यने साथ दिया, जुटकर काम हुआ, दुकान चल निकली । जहाँ दस रुपयेकी भी आमदनी न थी, पाँच-सात सौ हाथमें आने लगे ।

पतिके मनमें यह भावना थी कि श्यामा मेरे घरका, जो अभाव भोग चुकी है, उसे भूल जाये । इसलिए खाने-पहननेका वे अच्छेसे-अच्छा प्रबन्ध करते और श्यामाकी किसी क्ररमायशपर ‘ना’ न कहते ।

उनकी चलती देख, बराबरीमें वैंसी ही दूसरी दूकान खुल गयी और उसका इस दूकानपर असर पड़ने लगा। हाथ खिंचाव आया, पर खर्चका मुँह बड़ा होता जा रहा था। एक दिन साझीदार-जैसे स्वरमें उन्होंने श्यामासे कहा, “काम ज़रा ढीला है और खर्चा बहुत बढ़ गया है।”

श्यामाने विरोधीके वकीलकी तरह सहानुभूति-शून्य स्वरमें कहा, “तो फिर उसे कम कर दीजिए।”

बात वहीं रुक गयी पर तकाज़ा तो नहीं रुका, तो एक दिन पतिने फिर बात उठायी, “अरे हाँ, सुनती हो, यह खर्चा बढ़ता ही जा रहा है।”

श्यामा जैसे प्रश्नकी गहराईमें उतरनेको तैयार न थी। उसने कहा, “देखो जो, यह बात मुझे रोज़-रोज़ अच्छी नहीं लगती। महीनेमें सात सेर घी लगता है, डेढ़ मन दूध, दो रुपये रोज़की सब्जी और इतने ही फल। बच्चोंकी पढ़ाई, मामूली कपड़ा-सपड़ा और बस राशन ! अब इसमें जो चाहो, कम कर दो!”

पतिने कहा, “मैं क्या कर दूँ, तुम्हीं कर दो; आखिर घरकी मालकिन तो तुम्हीं हो !”

श्यामा बोली, “घासकी तरह सब्जी उबालना मुझे नहीं भाता और बच्चोंको भी मैं तरसा नहीं सकती। हाँ, तुम चाहे जो करो, मैं मना नहीं करती। कमाई तुम्हारी, खर्च तुम्हारा; मैं तो दो रूखी रोटी खाकर भी ठण्डा पानी पी सकती हूँ।”

तीन

श्यामूकी उम्र है सात साल। स्कूलमें पढ़ने जाता है और सामको उसे पढ़ाने आते हैं एक मास्टरजी।

उस दिन मास्टरजी आये, तो श्यामू कहीं ग़ायब। पहले उसकी माताने अपने कर्कश स्वरसे उसे पुकारा और तब पिता गरजे, पर श्यामू तक न

माताकी पुकार पहुँची, न पिताकी हुंकार । तब तैनाती हुई नौकरकी कि जहाँ भी वह नालायक हो, उसे लाया जाये ।

नौकर खोजमें निकला, तो श्यामूकी माता आ खड़ी हुई मास्टरके पास और आँखें तरेरकर बोलीं, “क्यों जी, जब बच्चेपर तुम्हारा रोब ही नहीं है, तो तुम उसे पढ़ाओगे क्या खाक ?”

श्यामूकी माताका यह रूप देखा, तो मास्टरजी धड़का खा गये, पर उनके साहस और सूझकी बधाई कि वे जल्दो ही सँभल गये और बोले, “माताजी, इसमें मेरा क्या दोष है कि आपका बालक मेरे पीछे खेलता-फिरता है ? हाँ, मेरे सामनेसे उठकर वह कहीं उड़ जाये, तो मेरी जिम्मेदारी है ।”

बात अक्लकी थी, पर श्यामूकी माँको वह इतनी बेअक्लकी लगी कि उनकी हुंकार फुंकारमें बदल गयी और तड़ककर बोलीं, “जब सारी जिम्मेदारियाँ मेरी ही हैं, तो आपको ये सफेद-चिट्ठे नोट किस बातके मिलते हैं ?”

मास्टरजी कुछ कहनेको ही थे कि श्यामू आ गया । वह आया कि माँने उसकी कमरपर धमाका मारा और गरजीं, “अरे तू कहाँ मर गया था !”

खेलसे खुशी-खुशी लौटा श्यामू एकदम सन्न, पर तभी उसके फूल-से गालोंपर चार चाँटे — तड़ातड़, तड़ातड़ ! रो पड़ा श्यामू, पर इधर आँसू चुए, उधर ललकार पड़ी, “चुप ! जान निकाल दूँगी अभी । रोकर डराना चाहता है मुझे !”

उमड़े आँसुओंको रोकना जीवनकी सबसे बड़ी बेबसी है और इसी बेबसीका शिकार था इस समय श्यामू । आँसू पी, बस्ता टटोलने लगा । अब धमाके-तमाचोंसे सन्न श्यामू और उसके मास्टरजी — माताकी झाड़से झुँझलाये, “सुना बे, कलका पाठ !”

पाठ श्यामूको हरूफ-हरूफ याद, पर कण्ठ भर्राया और साँस आँसू-भरे, कैसे कोई कुछ बोले ? इधर यह हाल, उधर मास्टरजीको भी अपनी झुँझलाहट उतारनेके लिए किसीकी जरूरत और श्यामू सामने ही । उन्होंने

पेंसिलसे उसकी अँगुलियाँ ठोकीं, हथेलियोंसे कान मसले और चुटकियोंसे गाल नोचे। श्यामूने क्षण-क्षण चाहा कि वह रो पड़े — चिल्लाये, पर मास्टरजीकी आँखें धूरकर दीवालका काम जो कर रही थीं !

चार

सुन्दरको भी पढ़ाते हैं उसके मास्टरजी। उस दिन वे समयपर आये, तो सुन्दर नौ-दो-ग्यारह ! मास्टरजीने सुन्दरकी माँसे कहा, “तीन दिनसे सुन्दर समयपर नहीं मिलता। मालूम होता है पास-पड़ोसमें कोई बुरा लड़का है और सुन्दरका उससे हेल-मेल बढ़ गया है। यह बुरी बात है। मैं प्रयत्न करूँगा, कृपाकर आप भी इधर ध्यान रखें।”

माँने कहा, “आपने बड़ी कृपा की, जो यह बात मुझसे कह दी। मैं इधर पूरा ध्यान दूँगी, आप भी उसे समझायें।” और सुन्दरको उन्होंने बुला दिया। सुन्दर अपना बस्ता खोलने लगा, तो मास्टरजी बोले, “सुन्दर भैया, हम कलसे नहीं आयेंगे यहाँ।”

चौँककर सुन्दरने पूछा, “क्यों मास्टरजी?”

मास्टरजीने कहा, “बात यह है कि तुम्हें अच्छा आदमी बनानेके लिए हम इतनी दूर आते हैं और इसीके लिए तुम्हारे बाबूजी हमें इतने रुपये देते हैं, पर जो समयका ध्यान नहीं रखता, बुरे लड़कोंके साथ खेलता है, वह अच्छा आदमी कहाँ बनेगा?”

और भी उन्होंने बहुत कुछ कहा, समझाया, तो सुन्दरने अपनी भूल मान ली। पढ़कर वह घरमें गया, तो उसके बाबूजी गुस्सेमें बोले, “कलसे तुम बाहर गये, तो मैं तुम्हारी टाँग तोड़ दूँगा।”

माँने सुन्दरका पक्ष लिया, “बाह जी बाह, मेरा बेटा जरूर खेलेगा।” इस तरह दोनों लड़ते रहे गरमागरम और सुन्दर इस अभिनयको यथार्थ

समझता रहा। अन्तमें माँका यह फ़ैसला माना गया कि सुन्दर पढ़नेके बाद खेला करेगा और कभी वह भूल करेगा, तो दो दिनके लिए उसका खेलना बन्द रहेगा।

तीन-चार दिन बाद सुन्दरने फिर वही भूल की, तो इस बार माँ सख्त पड़ी और उन्होंने बाबूजीके मना करनेपर भी यह नया नियम बनाया कि जिस दिन मास्टरजीके आनेपर सुन्दर न मिले, उस दिन उसका जेब-खर्च भी बन्द। बस इसी तरहके कुछ और प्रयोग हुए और सुन्दरको नियमित जीवनकी आदत पड़ गयी।

पाँच

ये चार घटनाएँ हैं और घटनाएँ क्या, जीवनके चार रूप हैं। इन्हें पढ़कर हम अपना मनोरंजन कर सकते हैं। मोहिनी और श्यामा पत्नीके दो साँचे हैं और पत्नीके क्या, गृहव्यवस्थाके ही दो साँचे हैं — एकदम माँडल यानी मनोवृत्ति, जिसमें व्यवहार ढलता है।

मोहिनीकी वृत्ति है : घरमें जो कुछ है, उसे ही इस तरह काममें लाया जाये कि घरका सुख, सन्तोष और शोभा न बिगड़े।

श्यामाकी वृत्ति है : घरमें वह सब कुछ होना ही चाहिए, जो मेरे लिए आवश्यक है।

पहली वृत्ति है : साझेदारीकी, समन्वयकी, दे-लेकी, सुख-दुःखको मिलाकर भोगने-सहनेकी — संक्षेपमें सहयोगी मित्रकी !

दूसरी वृत्ति है : डिक्टेटरीकी, असहयोगकी, ले-लेकी, सुखको मनचाहा भोगनेकी, दुःखमें मझधार छोड़नेकी, संक्षेपमें स्वार्थी प्रतिस्पर्धीकी।

स्पष्ट है कि पहली वृत्तिके पनपनेपर घर-गृहस्थी हो जाती है खिला-महकता उपवन और दूसरी वृत्तिके पनपनेपर दम-घोटू जेलखाना।

मोहिनी और श्यामाके पास ही खड़ी हैं श्यामू और सुन्दरकी माताएँ और दोनोंके मास्टरजी भी ।

ये चारों भी साँचे हैं, पर मनोवृत्तिके नहीं, प्रक्रियाके, प्रणाली तरीक़ेके । चारोंकी मनोवृत्ति है निर्माण, पर निर्माणकी आधार-शिला है सन्तुलन और वह दोमें है, दोमें नहीं ।

तो कहें कि श्यामूकी माँ और उसके मास्टरजी निर्माण प्रक्रियाके ग़लत साँचे हैं और सुन्दरकी माँ और उसके मास्टरजी सही साँचे ।

निर्माण बालकका हो, घर-गृहस्थीका हो या फिर स्वयं अपने ही व्यक्तित्वका, निर्मातामें सन्तुलन आवश्यक है ।



प्रतीक्षा : ज़हर और रसायन

मेरे एक मित्र हैं। नामसे आपको क्या लेना और नाम रूपको महत्त्व देनेका अर्थ है मायामें फँसना, पर नामके बिना काम नहीं चलता, इसलिए समझ लें चन्दू भाई है !

उस दिन मिले तो बातें घर-गृहस्थीपर चल पड़ीं और अपनी मुद्रामें पूरी रुद्रता भरते हुए बोले, “भइया, मेरा वश चले तो मैं इस घरमें आग लगा दूँ !” मुझे लगा कि उनका रोम-रोम अपने घरसे ऊबा हुआ है।

मैंने उन्हें सहलाया, “आखिर बात क्या है ? देखती आँखों आपपर भगवान्की पूरी कृपा है। अच्छी-खासी नौकरी है, पत्नी भी एम्० ए० पास है, शिष्ट है, निपुण है। दो बालक भी आपके घरकी शोभा बढ़ा रहे हैं, फिर आप किस बातसे इतने ऊब रहे हैं कि आग लगानेकी अशुभ बात मुँहसे निकाल रहे हैं ?”

वे भर उठे। बोले, “विवाहमें आग लगे सात साल हो गये। एक दिन भी ऐसा नहीं हुआ कि कहीं बाहरसे आकर मन प्रसन्न हुआ हो। बाहरसे आदमी घरमें आता है, तो मनमें सौ उमंगें और हज़ार उचंगें होती हैं, पर द्वारपर पैर रखते ही वे सब सो जाती हैं और वे क्या सो जाती हैं; मेरे जीवनकी खुशिका दीपक ही बुझ जाता है।”

मैंने बात-चीतको दूसरी तरफ़ बदला और मित्रको शान्त किया, पर मनमें एक फाँस-सी चुभी रही। कुछ दिन बाद अवसर मिला, तो मैंने इस बारेमें चन्दू भाईकी पत्नीसे बात-चीत की। मेरे मनमें यह विचार था कि मेरे मित्रकी पत्नी शायद लापरवाह हैं और दफ़्तरसे लौटकर उन्हें ठीक तरह चाय-पानी नहीं मिल पाता, इसीसे वे असन्तुष्ट हैं, पर वे इससे ज़रा भी सहमत नहीं थीं।

पूरे आत्म-विश्वाससे उन्होंने कहा, “ऐसी कोई बात नहीं है भइया, सच कहती हूँ, सात वर्षोंमें सात बार भी ऐसा नहीं हुआ कि उनके या उनके मित्रोंके प्रबन्धमें क्षण-भर भी कमी रही हो।”

दोनोंकी बातोंपर मैंने बहुत गहराईसे विचार किया, पर मेरी समझमें ही न आया कि दोनोंमें उलझन कहाँ है ?

कोई दो सप्ताह बाद किसी कामसे, शामके समय मित्रके दफ्तरमें उनसे मिलने गया तो वे घर जानेको तैयार ही थे। बोले, “चलो घर चलें। वहीं तुम्हारी बातें भी सुनेंगे और साथ ही चाय भी पियेंगे। तुम्हारी भाभी भी तुम्हें कई बार पूछ चुकी हैं कि भइया नहीं आये ?”

मैं उनके साथ हो लिया। रास्ते-भर वे इधर-उधरकी बातें उत्साहसे करते रहे और इन बातोंमें जितनी बार भी उनकी पत्नीकी बात आयी उन्होंने उनका नाम बड़ी गहरी ममतासे लिया और उनके कई गुणोंकी बहुत प्रशंसा की।

इससे मुझे प्रसन्नता हुई और मैंने सोचा कि उस दिन उनमें घरके लिए जो कड़वाहट थी, वह पच गयी है, मसला समझौतेपर पहुँच गया है।

हम दोनों प्रसन्नतासे भरे उनके घरमें घुसे। द्वारपर ही समाचार मिला, “वे अभी, थोड़ी देर हुई बाहर गयी हैं, जल्दी ही आ जायेंगी। तबतक आप चाय पी लें।”

मैं उनके साथ उनके कमरेमें गया तो देखा कि चुनी हुई धोती पलंग-पर रखी है और उसके पास ही खुला हुआ रेशमी कुरता भी। नीचे स्लीपर भी ढंगसे रखा था। मित्रने कपड़े बदल लिये और जूता भी निकाल दिया। दोनों खानेकी मेजपर पहुँचे। वहाँ भी हर एक चीज करीनेसे लगी हुई थी। हमने खानेपर जाना कि हर चीज नम्बर एक बनी हुई थी।

मैंने कहा, “आपकी श्रीमतीजी तो पूरी पाक-शास्त्री हैं, साथ ही सफल व्यवस्थापिका भी।” मित्रने कोई उत्तर नहीं दिया तो मैंने उनकी

तरफ़ देखा। वे एकदम सुस्त थे और उनका चेहरा बहुत उदास हो रहा था।

चौककर मैंने पूछा, “क्यों, क्या बात है? आपकी तबीयत तो ठीक है?” मैंने देखा, उनकी आँखें डबडबा-सी आयी हैं और वे बहुत ही कातर हो रहे हैं। कुछ देर बाद सँभलकर बोले, “मुझे उनका यही रूप तो खा जाता है भइया! मैं दिन-भर जाने क्या-क्या सुन-सहकर शामको घर आया, पर वे पहले ही कहीं बाहर चली गयीं। मेरा वश चले, तो मैं इस घरमें आग लगा दूँ!”

मैंने उन्हें सहलाया, “आप इस छोटी-सी बातको इतना महत्त्व क्यों देते हैं? देखिए तो सही, वे जानेसे पहले आपके आरामका एक-एक प्रबन्ध स्वयं कर गयी हैं!”

सुनकर मित्र उबल पड़े, “जो तुम कह रहे हो वही जवाब वे देती हैं। अरे भाई, यह सब चीजें तो आदमी होटलमें भी पा सकता है। फिर आदमी घर क्यों बसाये? उस घरमें और होटलमें फ़रक़ ही क्या है, जहाँ बाहरसे आनेपर कोई उत्सुकतासे प्रतीक्षा करता न मिले! मुझे कभी यह अनुभव ही नहीं होता कि मेरा न रहना किसीके लिए अभाव है। तब यह कम्बख़्त घर है या सराय कि पैसे दो और खा-पीकर सिर बिस्तरमें दुबका लो!”

मित्र चाय पीने लगे, पर मैं एक विचारमें खो गया। सच यह है कि घर-गृहस्थीके सम्बन्धमें एक नयी दिशा मिल गयी थी। मैंने यह कभी सोचा ही न था कि प्रतीक्षा भी घरेलू जीवनका महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और इतना महत्त्वपूर्ण कि उसके बिना एक हरे-भरे घरकी बेल ही मुरझा जाती है। मेरे मित्रका यह वाक्य मेरे मनके चारों ओर कुछ इस तरह घिर गया था कि उसके बाहर झाँकना मेरे लिए सम्भव ही न था, “उस घरमें और होटलमें फ़रक़ ही क्या है जहाँ बाहरसे आनेपर कोई उत्सुकतासे प्रतीक्षा करता न मिले!”

दो

एक परिवारमें मेरा आना जाना है। श्रीमती वीणा बड़ी सहृदय नारी हैं। उनकी शिक्षा साधारण है, पर मानसिक विकास असाधारण। जाने कितने जन उनकी छायामें ममता पाते रहते हैं। कोई कैसी भी खराब मूडमें हो, वे थोड़ी ही देरमें अपने स्नेहसे उसे ताजा कर देती हैं। न उन्हें रुपयेका लोभ है न श्रमका। दिनमें अकसर वे कई-कई बार चाय बनाती हैं और रातमें दो बजे भी उनके द्वारपर कोई पहुँच जाये तो पूर्ण आतिथ्य पा जाता है।

उनके स्वभावकी सहज ममताने उनका कुटुम्ब बहुत विस्तृत कर दिया है। योंकहूँ श्रीमती वीणा ममता और शालीनता, सजीवता और सरलताकी मूर्ति हैं। मैं कभी-कभी हँसीमें कहा करता हूँ कि ब्रह्माने इक्यावन माताओं और पचास बहनोंके हृदयोंका सार लेकर इनके स्वभावका निर्माण किया था। श्रीमती वीणाके पति भी सरल, सहृदय मनुष्य हैं। उनके घरमें जो इतने मनुष्य ममता और आतिथ्य पाते हैं, तो वे इससे जैसे रस पीते हैं। अपनी पत्नीके किसी काममें दखल देना वे जानते ही नहीं। वे जैसा चाहें पढ़ें, खायें, खरचें। जैसा चाहें रहें। सबसे हँसकर बोलते हैं और उदार इतने कि जब उनके घरमें पाँच-सात बाहरके मनुष्य रसगुल्लों और समोसोंके साथ चाय पीकर उठे हों, वे बाहरसे आयें और उन्हें चायका एक प्याला भर ही मिले, तो उससे पूरी तरह सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे नहीं चाहते कि उनकी पत्नी उनके लिए फिरसे रसोईघरमें जाये।

जो दोनोंसे मिलता है, सन्तुष्ट हो जाता है, खुशीसे भर उठता है और मन-ही-मन सोचता है कि “बस जी, जोड़ी तो यह !” कोई उन्हें राम-सीताकी जोड़ी कहता है, तो कोई राधा-कृष्णकी। जाने कितने पुरुष हैं जो अपनी पत्नियोंसे श्रीमती वीणाका बखान करते नहीं अघाते और जाने कितनी पत्नियाँ हैं जो अपने पतियोंसे श्रीमती वीणाके पतिका आदर्श ग्रहण करनेको कहती रहती हैं।

एक लम्बे सम्पर्कके बाद एक दिन मैंने स्वयं श्रीमती वीणासे जाना कि वे अपने पतिसे इतनी असन्तुष्ट हैं कि वे आश्रममें जाकर रहनेकी बात सोचा करती हैं। मेरे प्रति श्रीमती वीणाकी ही नहीं, उनके पूरे परिवारकी आत्मीयता है, इसलिए उनका असन्तोष खुल पड़ा और वे बोलीं, “वे प्रातः-काल उठते-निपटते ही अपनी मेज़की तरफ़ दौड़ते हैं और जाने कैसे बीचमें उठकर नहाते-खाते हैं। इसके बाद दफ़्तर है, मिलनेवाले हैं, सार्व-जनिक काम हैं, व्यापारकी धुन है, यह है, वह है और तबतक है, जबतक कि नींद न आ घेरे।”

बात यहीं तक आयी थी कि उनके पति आ गये। श्रीमती वीणा उठकर तुरन्त द्वारपर पहुँच गयीं, वे उनकी बातोंमें बिना दिलचस्पी लिये भीतर कमरेमें चले गये और वहाँसे कपड़े बदलकर आये तो बोले, “अरे भाई, आजके समाचार-पत्र कहाँ हैं?” श्रीमती वीणाने आजके तीन-चार दैनिक उन्हें दिये, तो वे उन्हें लेकर अपनी मेज़पर जा बैठे।

श्रीमती वीणाने धीरेसे कहा, “देखा तुमने? बस रोज़ यही हाल रहता है। वे बाहर जाते हैं, मैं प्रतीक्षा करती रहती हूँ। इस प्रतीक्षामें रस होता है, उससे जीवनको बल मिलता है। भले ही प्रतीक्षा लम्बी हो, पर मैं उससे थकती नहीं हूँ। बल पाती हूँ। प्रतीक्षाका सबसे बड़ा गुण ही यह है कि वह स्वयं प्रतीक्षा भी है और प्रतीक्षा करनेकी शक्ति भी। बात यह है कि प्रतीक्षामें मनुष्यका हृदय वर्तमानपर केन्द्रित नहीं होता, भविष्यपर केन्द्रित रहता है। ‘वे इस समय मेरे पास नहीं हैं’, मैं यह नहीं सोचती, ‘वे मेरे पास होंगे,’ यही सोचती रहती हूँ और यह सोचना, अभावमें भावका — विरहमें मिलनका सुख लिये होता है।”

श्रीमती वीणा चुप हो गयीं। मुझे लगा कि वे अपनी मनोवैज्ञानिक विवेचनाका स्वयं विवेचन करनेमें डूबी हुई हैं। तभी वे बोलीं, “तुम मेरी बातको इस तरह समझ सकते हो कि वे बाहरसे आते दिखायी देते हैं, मेरा हृदय निहाल हो जाता है और सारी थकान पल-भरमें स्फुरणा बनकर देह

और मनपर बरस पड़ती है। इस स्फुरणाका अर्थ होता है — अब वे मेरे हैं बस मेरे ही, पर उनका व्यवहार बताता है कि वे इस समय भी मेरे नहीं हैं — अपने हैं, अपने कामके हैं।

“कामसे मुझे चिढ़ हो, ऐसा नहीं है। अपने पतिके कामसे जिस पत्नीको चिढ़ हो, उससे अभागी कौन होगी ? मैं भी तो रात-दिन काम करती हूँ, यह काम भी तो उन्हींका है। पर काम करनेके लिए एक प्रेरणा चाहिए। मेरी प्रतीक्षा यही प्रेरणा माँगती है। मनुष्यके मनका यह एक चमत्कार ही है। इस माँगमें दानकी भावना भी है। मैं उनसे आगे काम करनेका उत्साह पाऊँ, यह तो होता ही है, उन्हें आगे काम करनेका उत्साह दूँ, यह भी होता है, पर वे घर आकर भी मेरे नहीं हो पाते, मेरी प्रतीक्षा प्यासी रह जाती है।”

कहते-कहते श्रीमती वीणा भावलीन हो उठीं। उनके चेहरेपर इस समय एक अद्भुत दार्शनिकता थी। वे बोलीं तो जैसे कोई सन्त ही बोल उठा — “भइया, प्यास आकुलता है और आकुलताका अर्थ है एकाग्र न होना। एकाग्रता ही गृहस्थ जीवनका प्रकाश-स्तम्भ है। प्रकाशहीनता अन्धकार है और अन्धकारमें पहले असन्तोष फिर दोष पनपते हैं।

“उनसे मुझे प्रेरणा नहीं मिलती और उन्हें भी मुझसे किसी प्रेरणाकी अपेक्षा नहीं है — जिस दिन यह विश्वास गृहस्थमें प्रवेश करता है उसका सम्पूर्ण सुख उसी दिन अपनी अनन्त यात्राके लिए निकल पड़ता है।”

श्रीमती वीणाकी बात पूरी हो गयी, तो मैंने देखा कि बात क्या समाप्त हो गयी, वे स्वयं ही अपनेमें समाप्त हो गयी हैं। मैंने सोचा, इस नारीमें कितनी शीतलता है कि अपने भीतर इतना भयंकर ज्वालामुखी छिपाकर भी यह दूसरोंको इतनी ममता दे पाती है।

तीन

मिस्टर डेविड एक भारतीय ईसाई हैं। वे रेल-विभागमें गाई हैं। उम्र पचाससे ऊपर है। उनकी पत्नीकी उम्र भी उनकी उम्रका पल्ला पकड़े चल रही है। मैं जब उनके घर जाता हूँ, तो देखता हूँ कि दोनोंके जीवनमें एक गहरी प्रसन्नता और एकाग्रता है और दोनों एक दूसरेमें लीन होकर जी रहे हैं। देखकर शान्ति मिलती है, जैसे फब्बारेके पास बैठकर फुहारें आया करती हैं।

डेविड दो दिन घर रहते हैं और तीसरे दिन अपने कामपर जाते हैं। जाते समय श्रीमती डेविड खाने और नाश्तेके दो टिफिनकेरियर साथ भेजती हैं। वे अपने पतिके साथ स्टेशन जाती हैं। स्टेशन पास ही है ! कोई सात मिनटमें दोनों प्लेटफार्मपर पहुँच जाते हैं। श्रीमती डेविड अपने हाथों सब सामान कम्पार्टमेण्टमें सजाती हैं और एक छोटी-सी साफ़, सुन्दर गद्दी अपने हाथसे डेविडकी सीटपर बिछा देती हैं।

मिस्टर डेविड चार्ज लेकर कम्पार्टमेण्टमें आते हैं, तो सब कुछ उन्हें अपने कमरेकी तरह ठीक मिलता है। गाड़ीका समय हो जाता है, तो दोनों एक दूसरेको प्रेमांकित कर अलग होते हैं। गाड़ी चल पड़ती है तो मिस्टर डेविड झण्डी हिलाते रहते हैं और श्रीमती डेविडकी तरफ़ इशारे करते, मुसकराते रहते हैं। श्रीमती डेविडका रूमाल भी अन्ततक खामोश नहीं रहता।

जिस गाड़ीसे मिस्टर डेविड आनेवाले होते हैं, श्रीमती डेविड उसके समय फिर प्लेटफार्मपर पहुँच जाती हैं। गाड़ीके मोड़पर आते ही दोनों एक दूसरेको देखकर मुसकरा पड़ते हैं और हाथ हिलाकर एक दूसरेका स्वागत करते हैं और गाड़ीके थमते ही श्रीमती डेविड उचककर कम्पार्टमेण्ट में पहुँच जाती हैं और दोनों एक दूसरेको प्रेमांकित कर देते हैं। तब चार्ज देकर अपना सामान लिये, दोनों बातें करते घर आ जाते हैं।

मैंने बहुत बार देखा है स्टेशन जानेसे पहले श्रीमती डेविड घरका हर काम इस तरह बाँध जाती हैं कि आनेपर उनके पतिको पूरी शान्ति मिले। यहाँ तक कि बच्चोंको वे दूसरी तरफ़ खेलमें ही नहीं लगा जातीं, पलंगपर रखी रजाईकी तह भी खोल जाती हैं, जिससे मिस्टर डेविडको उसे ऊपर लेनेमें जोर न लगाना पड़े ! मिस्टर डेविड कहा करते हैं, “मैं दो घण्टेमें ऐसा ताजा हो जाता हूँ जैसे कामपर गया ही नहीं था !”

दोनोंको देखकर कई बार मनमें प्रश्न उठा था कि मिस्टर डेविड श्रीमती डेविडकी इस मानसिक तल्लीनताका प्रतिदान किस रूपमें करते होंगे, पर इसका कोई उत्तर मुझे न मिला। मेरा यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण था कि मानसिक प्रतिदान पाये बिना, यह तल्लीनता इतने दिनोंतक इस रूपमें स्थिर रह ही नहीं सकती।

एक दिन मेरे प्रश्नका उत्तर मुझे मिल गया। उस दिन शामको मैं मिस्टर डेविडके घर गया, तो तभी उनके कुछ मेहमान आये थे और श्रीमती डेविड जल्दी-जल्दी उनका सामान रखा रही थीं। तभी बाहरसे हबकाये हुए-से मिस्टर डेविड आये। आते ही उन्होंने श्रीमती डेविडको पुकारा, “कहाँ हो, कहाँ हो ?”

वे भीतरसे आयीं तो घबराये हुए-से वे बोले, “क्या बात है ? तुम्हारी तबीयत तो ठीक है ?”

मैं उनकी परेशानीका अर्थ न समझा और पास जाकर पूछा तो बोले, “इन्हें स्टेशनपर न देखा तो मैं घबरा गया और दौड़ा हुआ ही समझो, यहाँ आया। रास्तेभरमें प्रभुसे प्रार्थना करता रहा और रास्तेमें जो तीन भिखारी मुझे मिले, उनकी दुआएँ लीं।”

अब वे फिर स्टेशनकी ओर चले तो मैंने पूछा, “कहाँ जा रहे हैं।” बोले, “रिपोर्ट देनी है और सामान लाना है।” इसका अर्थ था कि वे स्टेशनपर पत्नीको न देखकर सब कुछ ज्योंका-त्यों छोड़कर घरकी ओर भागे।

मैंने अपने मनमें सोचा, “श्रीमती डेविडका यही मानसिक-प्रतिदान है और यही वह गुण है, जो दोनोंकी हृदयोंकी तल्लीनताको चौथाई शताब्दी-से चिपकाये हुए है।

चार

जीवनके तीन अनुभव हैं यह !

प्रतीक्षाके तीन रूप हैं यह। इन तीनोंको एक करें तो यह अनुभव बनता है — यही आवश्यक नहीं है कि हम जब बाहरसे घर लौटें, तो हमें कोई प्रतीक्षा करता मिले, जिससे हम अपने अस्तित्वकी किसीके लिए उपयोगिता पा सकें, यह भी आवश्यक है कि जब हम बाहर से लौटें, तो वहाँ जो हमारी प्रतीक्षा कर रहा हो, हम उसे उसकी प्रतीक्षाका पूरा प्रतिदान देनेमें कृपण न हों, जिससे वह हमारे लिए अपने अस्तित्वकी उपयोगिता पा सके !

यों प्रतीक्षा एक ज़हर भी है, एक रसायन भी। हमें वह किस रूपमें प्राप्त हो, यह हमारी भावना और उसे प्रदर्शित करनेवाली नन्हीं सावधानियोंपर निर्भर है।

उनकी रायमें मैं गूँगा हूँ !

मेरी जीभ स्वस्थ है और वह ठीक अपने स्थानपर फिट है । माँ कहा करती थी कि जब मेरा जन्म हुआ, तो उन्होंने चाँदीकी सलाईमें शहद लगाकर मेरी जीभपर 'श्री' लिखाया था, उसीका फल है कि मुझे विद्या फल गयी है ।

मैं नहीं जानता कि जन्मके समय आदमीके भाग्यकी तख्तीपर कुछ लिखा होता है या वह कोरी होती है । दूसरे शब्दोंमें, आदमी पहले जन्मकी कुछ कमाई अपने साथ लाता है या नहीं और आदमीकी सफलताएँ और असफलताएँ उसके इसी जन्मकी सावधानियों और भूलोंपर निर्भर हैं या पहले जन्मके कामोंसे भी उनका कुछ रिश्ता-वास्ता है । माँकी बात जब भी मुझे याद आती है, सोचता हूँ कि मेरी जीभपर जन्मके समय शहदसे 'श्री' न लिखा जाता, तो क्या मैं मूढ़ ही रहता ?

इससे भी आगे बढ़कर मैं कभी-कभी सोचा करता हूँ कि यदि हरेक माता-पिता जन्मके समय अपने बच्चोंकी जीभपर शहदसे 'श्री' लिखानेका नियम बना लें, तो क्या संसारमें मूढ़ोंका अभाव हो जायेगा ? सोचते-सोचते मुझे हँसी आ जाती है और तब मैं सोचने लगता हूँ कि मेरी माँका फार्मूला सही हो, तो फिर सरकारको टीका लगानेवालोंकी तरह जीभ-पर शहदसे 'श्री' लिखनेवालोंका भी एक लम्बा-चौड़ा महकमा खोलना पड़ेगा ।

खैर ! यह तो हँसीकी बात है, पर यह बात हँसीकी नहीं है कि मेरी जीभ स्वस्थ है, ठीक अपने स्थानपर फिट है और मुझे विद्या फल गयी है । मैं मामूली पढ़ा-लिखा आदमी हूँ, फिर भी मुझे सभा-समाजमें पढ़े-लिखोंके बीच बैठाया जाता है और मेरी बातचीतसे समाजके प्रमुख पुरुष प्रभावित होते हैं ।

मुझे अपने काम-धन्धेमें जो सफलता मिली है, मेरे कई मित्रोंने उसका कारण मेरी सधी हुई बातचीतको ही बताया है। कई बार ऐसा भी हुआ है कि मेरे काम-धन्धेसे सम्बन्ध रखनेवालोंने मेरी प्रशंसा यह कहकर की है कि मैं अपनी बातका धनी हूँ। पाटियोंमें, गोष्ठियोंमें, सभा-समितियोंमें भी मैं निमन्त्रण पाता हूँ और जाता हूँ, पर कभी किसीने मेरे व्यवहारकी-बातचीतकी शिकायत नहीं की, पर आज यह जानकर कि मुझे गूंगा कहने-वाले, मेरा यही नाम रखनेवाले और इस कामका चटपटे चूरनकी तरह प्रचार करनेवाले भी इस दुनियामें हैं, मुझे आश्चर्य हुआ। फिर दुनियामें हों, तब भी कोई बात नहीं और नगरमें हों, तब भी एक बात है, पर वे दुनिया और नगरमें नहीं, मेरे ही घरमें हैं और घरमें भी क्या; वे घर ही हैं — स्वयं-साक्षात् घर याने मेरी श्रीमतीजी।

आज मैं बाहरसे लौटा, तो गलरोमें आते-आते सुना कि श्रीमतीजीकी एक सहेली उनसे कह रही हैं, “अरी चुप, पैरोंकी आवाज आ रही है। मालूम होता है, तेरे चुप्पे मियाँ पधार रहे हैं।” श्रीमतीजी बोलीं, “अरी, मेरे गूंगे मियाँसे तो उनके बूट ही भले हैं कि उनकी आवाज सुनायी तो दे जाती है।” ओह, तो दुनिया-नगर नहीं, अपनी श्रीमतीजीकी ही निगाहमें मैं चुप्पा याने गूंगा हूँ !

हूँ, पर इसका प्रतिवाद बेकार है; क्योंकि उन्हें और उनकी सहेलियोंको, जो रात-दिन बेकार अपने बोल बिखेरती रहती हैं, मैं यह नहीं समझा सकता कि गूंगा वह होता है, जिसमें बोलनेकी शक्ति ही न हो और चुप्पा होना गूंगेपनकी तरह आदमीके व्यक्तित्वकी कोई कमी या कमजोरी नहीं, एक बहुत बड़ी खूबी है।

सचाई यह है कि हमारी बीबी जानको अन्नलके बदहाजमेका कुछ-कुछ वैसा ही रोग हो गया है, जैसा एक बार अकबर बादशाहको हो गया था और उन्हें भी वैसी ही गोलीकी जरूरत है, जैसी बीरबलने अकबर बादशाहको दी थी।

अकबरने उस दिन बीरबलसे जाने क्या कहा, पर जो कुछ कहा, वह एकदम मूर्खतापूर्ण था, बेवकूफीकी बात थी। बीरबल चुप रहा। बादशाहने फिर कहा और बीरबल फिर भी चुप रहा। झल्लाकर बादशाह बोला, “तुम कितने बेवकूफ हो कि बोलते ही नहीं।”

बीरबल फिर भी चुप रहा और इसके कुछ दिन बाद छुट्टी लेकर अपने घर चला गया। उन्हीं दिनों शहरमें एक फ़क़ीर आये। शहरमें शोहरत मच गयी कि फ़क़ीर साहब बहुत पहुँचे हुए सन्त हैं। बात यह हुई कि जो उनके दर्शन करने जाता, वे उसका नाम लेकर पुकारते और बिना पूछे उसके मनकी बात बता देते। जब बार-बार फ़क़ीर साहबकी चर्चा सुनायी दी, तो एक दिन अकबर बादशाह भी उनके दर्शन करने गये।

अकबरने सलाम किया और सामने बैठ गये, पर फ़क़ीर साहब चुप। न उन्होंने बादशाहका नाम लिया, न मनकी बात बतायी, उनकी तरफ़ बस देखते रहे। काफ़ी देर बैठनेपर भी जब फ़क़ीर साहब कुछ न बोले, तो बादशाहको बहुत झुंझलाहट हुई और वे उठकर चले आये। लौटते ही उन्होंने सुना कि बीरबल लौट आया है। बादशाहने फ़ौरन उन्हें बुलाया और फ़क़ीरकी बात बताये बिना पूछा, “जब अपने सामने कोई बेवकूफ़ हो, तो बीरबल, क्या करना चाहिए?”

बीरबलने तुरन्त जवाब दिया, “जहाँपनाह, बेवकूफ़के सामने हर बुद्धिमान् आदमी चुप रहना ही अञ्जलमन्दी समझता है।”

बादशाह चुप हो गया, पर वह समझ गया कि मैंने उस दिन चुप रहनेपर बीरबलको जो बेवकूफ़ कहा था, बीरबलने फ़क़ीर बनकर उसका ही बदला लिया है। उनके दिलमें आया कि वे बीरबलको कुछ कहें, पर वे चुप ही रहे, क्योंकि वे यह पाठ पढ़ चुके थे कि बेवकूफ़के सामने और बेवकूफ़की बातपर चुप रहना ही सबसे बड़ी अञ्जलमन्दी है।

मैं भी चुप रहता हूँ। फिर चुप न रहूँ, तो क्या करूँ? बीबी बातूनी है। हर समय उसकी जीभ चलती है। और तो और रातमें सोते समय

भी भाषण चलता रहता है। अब इस सबपर मैं क्या कहूँ, सिवाय चुप रहनेके ?

एक दिन श्रीमतीजी घरके बाहर खड़ी सामनेके घरमें रहनेवाली किसी स्त्रीसे कोई घण्टा-भर जोर-जोरसे जाने क्या-क्या कहती रहीं। लौटकर आयीं, तो मैंने उन्हें सोफ्रोकिल्सकी एक सूक्ति सुनायी कि “मौन रहना स्त्रियोंको ऊँचे दर्जेका सौन्दर्य प्रदान करता है।”

तुरन्त बोलीं, “हाँ, मैं सुन्दर कहाँ हूँ, मैं तो शूर्पणखा हूँ।” और बस फिर उनका भाषण आरम्भ हो गया। मैं चुप रहा और किसी विद्वान्की यह सूक्ति याद करता रहा कि “जहाँ कौवे कोलाहल कर रहे हों, वहाँ कोयलका कूजन क्या करेगा ? और जहाँ दुर्जन वाद-विवादमें लीन हों, वहाँ सज्जनका मौन ही बुद्धिमानी है।”

ऐसी ही एक सूक्ति किसी दूसरे विद्वान्की है कि “कोयलने अच्छा ही किया, जो बादलोंके आनेपर खामोश रही; क्योंकि जहाँ मेढक टर्रा रहे हों, वहाँ मौन ही शोभा है।”

मेरे इस मौनने ही मुझे चुप्पे मियाँकी शानदार उपाधि दिलायी है और जैसे मैं उनकी बातोंपर चुप रहता हूँ, वैसे ही इस उपाधि-दान-समारोहपर भी चुप ही रहा, पर श्रीमतीजीको बोलनेका इतना शौक है कि वे मूडमें हों और मैं कमरेसे उठकर बाहर चला जाऊँ, तब भी वे बोलती ही रहती हैं।

ऐसे मौकोंपर मुझे वह चुटकुला याद आ जाता है कि एक उपदेशकजी भाषण देने लगे, तो बोलनेके शौकमें यह भूल गये कि सुननेवालोंको भाषण पसन्द नहीं आ रहा है और वे उठ-उठकर जा रहे हैं। अन्तमें हालत यह हो गयी कि केवल एक ही श्रोता रह गया, पर वे तल्लीन होकर भाषण देते रहे और जब भाषण समाप्त हुआ, तो उस अकेले श्रोताके पास जाकर बोले, “मैं उन चले जानेवाले हजार मूर्ख श्रोताओंसे तुम्हारे-जैसे एक गुणी श्रोताको अधिक पसन्द करता हूँ।”

उसने उत्तर दिया, “जी, मैं तो दरीवालेका आदमी हूँ और इसलिए बैठा हूँ कि उपदेश पूरा होनेपर यह दरी उठा ले जाऊँ।”

सिद्धान्तकी बात है कि क्रुदरतने आदमीको दो कान दिये हैं और एक जीभ, इसलिए उचित है कि दूसरोंकी दो बातें सुननेके बाद ही वह अपनी एक कहे, पर हमारी श्रीमतीजी शायद जीभको नहीं, दाँतोंको बोलनेका यन्त्र मानती हैं। कान दो, दाँत बत्तीस, तो उनका सिद्धान्त है कि दो सुनें, तो बत्तीस कहें, याने बोलनेसे सुननेका अनुपात सोलह गुना रहे। इस तर्क-पर भी चुप रहनेके सिवाय मैं क्या कह सकता हूँ ?



उनकी रायमें मैं बातूनी हूँ !

जो हाँ, मैं बातूनी बोबी हूँ और आप जानते हैं कि पुराने ज़मानेकी रायबहादुरी-सा यह खिताब मुझे नये ज़मानेमें क्यों मिला है ? सिर्फ़ इसलिए कि मैं अपने पतिसे यह आशा करती हूँ कि वे मुझसे दो बातें कर लिया करें ।

सोचना, विचारना, चिन्ता करना, चिन्तन करना, सब अच्छी बातें हैं । मैं उनसे कब कहती हूँ कि वे सोच-विचार या चिन्ता-चिन्तन न करें, पर ऐसा भी भला क्या सोच-विचार कि आदमीको अपने घरमें बात करने-के लिए कभी मूड ही न हो ।

उनके इस चुप्पेपनसे मैं ही तंग नहीं हूँ, मेरी सहेलियाँ तक परेशान हैं और चिढ़कर, कुढ़कर वे उनके नये-नये नाम रखती हैं । शारदाने उनका नाम चुप्पे मियाँ रख दिया, तो वहीदाने गुमसुम खान, पर आज तो कमाल ही हो गया । मैं खानेसे निपटकर लेटी ही थी कि मिस शर्ल आ गयी और बाहरके कमरेमें ताक-झाँक करनेके बाद बोली, “अरी, हज़रत आईन्स्टीन कहाँ हैं ?”

मैंने कहा, “कौन हज़रत ? किसे पूछ रही है ?”

बोली, “हज़रत नहीं, हज़रत आईन्स्टीन ।”

मैं उसकी बात नहीं समझी और पूछा, “हज़रत आईन्स्टीन कौन ?”

उत्तर मिला, “अच्छा जी, हज़रत आईन्स्टीनको भी नहीं जानती मेरी भोली । अरी, और कौन होते हज़रत आईन्स्टीन; वे ही हैं, तुम्हारे प्राणेश्वर स्वामी नाथम् ।”

मैंने कहा, “तुम लोगोंने उनके कई नाम रख रखे हैं, पर यह नाम तो उनके लिए एक परसेप्ट भी फिट नहीं है । आईन्स्टीन तो संसारमें

ऐटम-युगका आरम्भ कर गये और हिरोशिमा एवं नागासाकीके धड़ाके देख गये, पर हमारे वे धड़ाका तो क्या करेंगे, बोलते भी नहीं; कई-कई दिनोंतक घरमें साथ रहते भी मुझे उनकी आवाज सुनायी नहीं देती।”

तमककर शर्ले बोली, “क्या कहा ? आईन्स्टीन नाम उनके लिए एक परसेण्ट भी फिट नहीं है ? गलत, कतई गलत, यह नाम उनके लिए एक नहीं, एक सौ एक परसेण्ट फिट है। मैं तुम्हें हज़रत आईन्स्टीनका एक लतीफ़ा सुनाती हूँ। उसे सुनकर तुम मान जाओगी कि हज़रत आईन्स्टीनसे बढ़कर उनके लिए कोई नाम फिट हो ही नहीं सकता। लो, सुनो—

“एक दिन हज़रत आईन्स्टीन अपनी प्रयोगशालामे बैठे थे। उनके लिए बैठनेका अर्थ था सोचना, तो सोच रहे होंगे अपने प्यारे दिज्ञानका कोई फ़ार्मूला। तभी झपटी-झपटी पहुँची उस कमरेमें श्रीमती आईन्स्टीन और बोलीं, “डॉक्टर, यह जो तुमने नया नौकर रखा है, यह तो एकदम जानवर है, पूरा जानवर; कोई भली औरत इससे काम नहीं ले सकती।”

डॉक्टर आईन्स्टीन अपने चिन्तनमें लगे-लगे बोले, “आई ऐग्री विद यू।” — मैं तुमसे सहमत हूँ।

श्रीमतीजी सन्तुष्ट होकर बाहर चली गयीं, पर वे अभी बरामदेमे ही थीं कि दूसरे दरवाज़ेसे वह नौकर कमरेमें आया और जोरसे बोला, “डॉक्टर साहब, मैंने तो सोचा था कि आपकी बीबी भी आप ही जैसी देवता होगी, पर वह तो एकदम राक्षस है। मैं उसके साथ काम नहीं कर सकता।” डॉक्टर आईन्स्टीन अपने चिन्तनमें लगे-लगे बोले, “आई ऐग्री विद यू।”

श्रीमतीजीने यह सुना, तो वे आगबबूला हो उठीं और पैर पटकती कमरेमें जाकर बोलीं, “डॉक्टर, तुमने नौकरके सामने मेरा अपमान किया है, तुम क्रूर हो।” डॉक्टर आईन्स्टीन अपने चिन्तनमें लगे-लगे बोले, “आई ऐग्री विद यू।”

इसे सुनकर श्रीमती आईन्स्टीन और वह नौकर, दोनों पूरे जोरसे हँस पड़े; क्योंकि वे अब यह समझ गये थे कि डॉक्टरने किसीकी भी बात नहीं सुनी। उनकी हँसीकी गूँज सुनकर डॉक्टर आईन्स्टीनने चौंकर देखा, तो श्रीमती और नौकर उनके दायें-बायें खड़े हैं। पूछा, “क्या बात है? क्यों हँस रहे हो?” श्रीमतीजीने सारा किस्सा उन्हें सुनाया, तो बोले, “ओह!” और फिर अपने चिन्तनमें डूब गये। अब तुम्हीं बताओ बहन, कि तुम्हारे चुपे मियाँको हज़रत आईन्स्टीन कहती हूँ, तो क्या मेरा कहना नामुनासिब है?”

इसी तरह कोई-न-कोई मजाक मुझे रोज़ सुनना पड़ता है। एक दिन उनके चुपेपनसे झल्लाकर मैंने कहा, “भगवान् भी कैसा अन्धा है कि उसने एक नदीको पहाड़से बाँध दिया। अब नदीमें हर, घड़ी नयी लहर उठती है, पर पहाड़ गूँगा है, उसमें लहर तो लहर सरसराहट भी नहीं होती।”

मुझे विश्वास था कि वे इसपर ज़रूर कुछ देर बातचीत करेंगे, पर उन्होंने एक वाक्य कहा और अपने काममें लग गये। वह वाक्य यह था, “नदीको चाहिए कि वह पहाड़से आगे निकल जाये।” मैं बहुत देर तक जाने उन्हें क्या-क्या कहती रही, पर उन्होंने फिर अपने कामसे ध्यान नहीं हटाया।

एक दिन उनकी तबीयत खराब थी। वे बाहर नहीं गये और घरपर ही रहे। शाम तक पूरे समय मैं उनके पास रही और उन्हें अपनी सहेलियों-के पतियोंकी जीवन-गाथा सुनाती रही कि वे किस तरह अपने घरोंमें रस लेते हैं, बातें करते हैं, मन बहलाते हैं। पता नहीं, उन्होंने क्या सुना, क्या नहीं, पर शामको जब बहुत ही दुःखी होकर मैंने उनसे पूछा कि तुम मुझसे बात क्यों नहीं करते, तो बोले, “क्या बात करूँ?”

इस घटनाके कुछ दिन बाद एक दिन मैं बीमार पड़ी, तो वे ऑफ़िस नहीं गये। मैंने सोचा — उस दिन वे बीमार थे और मैंने उन्हें पूरे दिन

बातें सुनायी थीं, तो वे आज मुझे बातें सुनायेंगे, पर हुआ यह कि सुबह आठ बजे उन्होंने मुझे चाय और दवा दी, दस बजे सन्तरेका रस दिया, बारह बजे डबल रोटी दी, ढाई बजे मुसम्मीका रस दिया, साढ़े चार बजे दवा और चाय दी, साढ़े छह बजे साबूदाना दिया और बाक़ी समय बाहरके कमरेमें बैठे, वे अपना काम करते रहे ।

रातमें मैंने कहा, “आज मैं बीमार थी । तुम मुझसे दो बात कर लेते, तो क्या तुम्हारी जात बिगड़ जाती ।”

बाहर जाते-जाते बोले, “बीमारी बातोंसे नहीं, दवा और खुराकसे दूर होती है ।” बस पूरे दिनमें उन्होंने मुझसे इतनी ही बात की थी । मेरा जो जल गया और मैं उठकर उनके कमरेमें ही जा बैठी । बैठी क्या, बस जो जोमें आया, उन्हें कहती रही । इस कहनेमें नमक था, मिर्चें थीं, चाक़ू था, वारूद था, दियासलाइयाँ थीं, पर जैसे पत्थरपर जोक़ नहीं लगती और पानीमें फुलझड़ी नहीं छूटती, वही हाल मेरी बातोंका हुआ । उनके कान पता नहीं, इस्पातके बने हैं कि न उनमें मेरी बातोंका पैनापन प्रवेश करता है, न उनकी चोट ही !

बातोंसे बातें पनपती हैं और बातोंसे बातें पचती हैं । वे मुझसे बात नहीं करते, तो मैं और अधिक बातें करना चाहती हूँ, और अधिक बातें करती हूँ । कभी-कभी ये बातें घुटनका रूप ले लेती हैं और कभी-कभी भड़कका । अजोब आदमी पल्ले पड़ा है कि न उसपर घुटनका असर पड़ता है, न भड़कका और कभी असर पड़ता भी है, तो वह मुझे ऐसी चुभन देता है कि तड़पकर रह जाना पड़ता है ।

एक दिन उन्हें कामपर जाते समय मैंने बहुत-बहुत बातें सुनायीं । वे चुपचाप चले गये, पर शामको लौटे, तो स्वामी विवेकानन्दका एक बड़ा चित्र साथ लाये और उसे मेरे पलंगके ऊपर टाँग दिया । मुझे वह बहुत अच्छा लगा, पर ध्यानसे देखा, तो उसके नीचे स्वामीजीका यह वाक्य छपा था, “हम सारे दिन कितनी बड़बड़ करते हैं, यह थोड़े दिन ध्यान

देकर देखें, तो हमें मालूम होगा कि हम अपनी शक्तिकी कितनी फ़िज़ूल-खर्ची करते हैं। जैसे छूटा हुआ तीर वापस नहीं आता, ऐसे ही बेकारकी बातोंमें नष्ट हुई शक्ति वापस नहीं मिलती।” पढ़ा, तो मसमसाकर रह गयी।

एक दिन फिर मेरी बातोंमें बवण्डर उठ गया। वे बैठे सुनते रहे और सुनते क्या रहे, अपना काम करते रहे। झल्लाकर मैंने उनकी क़लम छीन ली, तो एक पुस्तक निकालकर मुझे दी। उसके पहले ही पन्नेपर हैज़लिट की यह सूक्ति थी — “बातचीतकी एक महान् कला खामोशी है।” और इस सबके साथ वे कहते हैं — मैं बातूनी हूँ !

बहसका अन्त

“चचा, मालूम होता है आपको नियुक्ति अपने देशकी ओरसे विदेशके किसी राजदूतावासमें हो गयी है। तो लाओ फिर खिलाओ मिठाई इसी बातपर !”

“मिठाई-सिठाईकी बातमें तो हम कोई ऐतराज है नहीं; कल ही नया गुड़ लायी है तुम्हारी चची, तो भैया, चाहे जितना खाओ और चाहो, तो एक डली लेते भी जाओ, पर एक बात बताओ कि गप्पें गढ़नेकी कला तुमने किस स्कूलमें पढ़ी है ?”

“गप्पें गढ़नेकी कला ? यह क्या होती है चचा ? मालूम होता है आज आपका दिमाग पूरी जौलानियोंपर है। तभी तो मुझे बिना शिक्षक खुले-आम गप्पो बता रहे हैं। भला बताइए, कि मैंने कौन-सी गप्प गढ़ी है ?”

“ओह, तुम इस बातपर तन्ना रहे हो इतना, पर भाई मेरे, इसमें न तन्नाने-झन्नानेकी जरूरत है, न गुंजाइश। बाल हो गये हैं सफ़ेद चाँदी, चेहरा झुर्रियोंका अजायबघर और आँखें काम चलाती हैं अन्दाज़की दोस्ती-के सहारे। यह है हमारी हालत कि यमदूतावासका परवाना अब आया, तब आया और तुम्हारे अनछपे दैनिकमें छप रही है किसी राजदूतावासमें हमारी नियुक्तिकी खबर। इस हालतमें हम तुम्हें गधा कहें, तो यह भी हमारा ही कसूर है !!”

“अरे चचा, कल मैं आपसे मिलनेको आया, तो आप किसी गहरी चिन्तामें डूबे हुए थे। आपको दूरसे देखकर मैं दूर चला गया, पर आज आया, तो आज भी आप उसी मूडमें मिले। तब मेरे मनमें विचार आया कि शायद आपकी नियुक्ति किसी राजदूतावासमें हो गयी है और आप उसकी समस्याओंमें उलझे हुए हैं।”

“मैया, समस्याओंमें उलझे रहा करते थे पुराने युगके कवि, पर अब तो समस्या-पूर्तिका युग ही समाप्त हो गया। तो जब समस्यावालोंके सामने ही समस्या नहीं रही, तो मैं किस समस्यामें उलझूँगा ?”

“चचा, कवियोंके सामने समस्या और शाइरोंके सामने तरह हो या न हो, पर आप बिना समस्याके कभी रह ही नहीं सकते। इस बारेमें तो आपका हाल ‘काले चोरसे डरेगा’ वाला है कि उससे नहीं, उससे नहीं, तो इससे ज़रूर !”

“काले चोरवाला हाल ? कौन काला चोर ? कैसा काला चोर ? पहले यह पहेली बूझो, फिर बात आगे चलेगी।”

“चचा, इसमें पहेली-सहेली कुछ नहीं है, यह तो एक सादी बात है और बात भी बच्चोंकी। देहातोंके बच्चे काले चोरका खेल खेलते हैं। एक बालक दूसरे बालकके सामने अपनी छोटी अँगुली खड़ी करके पूछता है, “इससे डरेगा ?” वह सिर हिलाकर कहता है, “नहीं !” तब वह दूसरी, तीसरी और चौथी अँगुली उठाकर कहता है, “इससे डरेगा ?” हर बार उसका उत्तर होता है, “नहीं !” तब वह लड़का अपना अँगूठा उसके सामने खड़ा करता है और बिना सूचना दिये उसके मुँहकी ओर उसे इस तरह झटकता है, जैसे मार रहा हो और कहता है, “अच्छा, इससे तो डरेगा !” अँगूठेके इस नकली आक्रमणसे पहले लड़केकी आँखें झपक जाती हैं, तो सब लड़के ताली पीट देते हैं—डर गया, डर गया ! चचा, यह है काले चोरकी कहानी; ठीक है न ?”

“भाई मेरे, काले चोरकी कहानी भी ठीक है और कहानीका कहने-वाला भी ठीक है, पर सवाल तो यह है कि यह मुझे क्यों सुनाये गये हैं ?”

“चचा, आप कह रहे थे कि मेरे सामने कोई समस्या नहीं है, तो मैंने कहा कि आपका हाल तो ‘काले चोरसे डरेगा’ वाला है। मेरा मतलब यह था और है कि यह हो ही नहीं सकता कि आपके सामने कोई समस्या न

हो; क्योंकि और कोई समस्या आपके सामने न होगी, तो चचीकी समस्या अवश्य होगी, जैसे कि वह लड़का इससे उससे भले ही न डरे, पर काले-चोरसे तो डरता ही है।”

“बाह भाई बाह, तुमने इस कहानीका जो फिटिंग किया, उसे देखकर मैं सोचता हूँ कि इस कलामें तो तुम अपनी चचीसे भी दो जूते आगे हो। लो, तुम समस्याकी चर्चा कर रहे थे, तुम्हें आजकी समस्या सुनाऊँ :

“मैं काश्मीर सिल्ककी एक प्रमाणित चादर सत्ताईस रुपयेमें खरीद लाया। बड़े शौकसे मैंने उसे तुम्हारी चचीपर फेंका और कहा, “लो देखो, कैसी शानदार चादर लाया हूँ तुम्हारे लिए !”

चादर को उलट-पुलटकर बोलीं, “चादर तो अच्छी है, पर हज़ामत तो नहीं बनवा आये ? तुम हो भी ऐसे ही कि कोई कहे खड़े होनेको, तो झट बैठ जाते हो।”

मैंने कहा, “मैं ऐसे दूकानदारोंके पास जाता ही नहीं, जो हज़ामत बनायें। मैं तो उद्योगमन्दिरसे लाया हूँ। न पूछनेकी ज़रूरत, न मोल-तोलकी; हरेक चीज़का दाम उसपर लिखा है।”

उन्होंने उलटकर चादरका कोना देखा। उसपर सत्ताईस रुपये लिखे थे। देखते ही वे इस तरह उदकीं, जैसे उनकी रजाईमें अचानक चूहा आ गया हो — “हाय राम, सत्ताईस रुपये ! यह उद्योगमन्दिर है या जेब-कतरोंका अड्डा !! मौसीजीके लिए यही चादर अभी चार दिन हुए मैं मुल्लाजीके यहाँसे सतरह रुपयेमें लायी थी। चोरोंने सतरहके सत्ताईस कर दिये — दिन दहाड़े लूट; इन कम्बख्तोंको पुलिस भी तो नहीं पकड़ती !”

मैंने हज़ार कहा, लाख समझाया कि यह चादर सतरह तो सतरह, छब्बीसमें भी नहीं मिल सकती, पर वे न मानीं, न मानीं और अड़ गयीं कि चलो अभी मेरे साथ मुल्लाजीकी दूकानपर। मैंने बहुत समझाया कि सिवाय परेशानीके वहाँ जानेमें कोई लाभ नहीं, पर कोई लाभ न हुआ और मुझे जाना ही पड़ा। खैर किस्सा कोताह, हम दोनों एक मोल चलकर

मुल्लाजीकी दूकानपर पहुँचे, पर मज़ा यह कि उनकी दूकानपर असली सिल्ककी कोई चादर ही न थी और इससे भी मज़ेदार बात यह कि वे सिल्क बेचते ही नहीं, उनकी दूकानपर तो आर्टिफिशल भागलपुरी सामान बिकता है।

हम दोनों लौट आये, पर तुम्हारी चची रास्ते-भर अपना यही इकतारा बजाती रहीं कि ऐसी ही भागलपुरी, ऐसी ही कश्मीरी; हैं तो दोनों सिल्क ही। कश्मीरी ज़रा चमकदार है, तो उसका दाम एक दो रुपये ज्यादा लगा लो, पर सत्ताईस रुपये तो खुली लूट ही है।”

“चचा, आखिर बहसका अन्त क्या हुआ ?”

“बहसका अन्त ? बहसका अन्त यह हुआ कि हमारा घर हमारे देशका नया मॉडल बन गया।”

“घर देशका मॉडल बन गया ! क्या मतलब ?”

“मतलब यह कि चादरसे हटकर बहस इस बातपर आ गयी कि यदि देशकी आर्थिक व्यवस्था स्त्रियोंके हाथमें रहे, तो उसका परिणाम क्या हो ?”

“अच्छा तो अब सुनाइए कि इस मसलेपर चचीने क्या कहा और आपने क्या राय दी। यह विवाद तो अच्छा-खासा दिलचस्प रहा होगा।”

“अजी, दिलचस्प क्या रहना था विवाद; मैंने साफ़ कह दिया कि देशकी आर्थिक व्यवस्था स्त्रियोंके हाथमें रहे, तो परिणाम क्या हो, चौका लग जाये ! पहली बात तो यह कि देशके निर्माणकी कोई योजना ही न बन पाये, चाहे इसके लिए योजना-कमीशनकी एक नहीं, एक सौ एक बैठकें बुलायी जायें।”

“तुम्हारी चची यह सुनकर बहुत चरपरायीं और तेज़ीसे बोलीं, क्यों, योजना क्यों न बन पायेगी ? क्या मैं तुम्हारे घरकी योजना नहीं बनाती और क्या तुम्हारे घरमें चौका ही लगा रहता है, खाना नहीं बनता ?”

मैंने कहा, “देवीजी, बस रहने दो, ज्यादा पत्ते मत उखड़वाओ। घर-की योजना कैसे बनती है और यहाँका काम कैसे चलता है, यह आपको नहीं, मेरी पसलियोंको मालूम है।”

तुम्हारी चचीने जीवनमें शायद पहली ही बार अव्वलसे काम लिया और मामलेको इस दिशामें आगे बढ़नेसे रोक दिया। बोलीं, “छोड़ो घर-की बातोंको और यह बताओ कि देशकी आर्थिक व्यवस्था स्त्रियोंके हाथमें हो, तो योजना क्यों न बनेगी?”

मैंने कहा, “योजना इसलिए नहीं बनेगी कि योजना-आयोगकी जो बैठक योजनाके मसविदेपर विचार करनेको बैठेगी, उसमें सब सदस्याएँ एक-साथ बोलने लगेंगी और मेजोंके पिटनेकी आवाजमें चूडियोंकी खन-खनाहट मिलकर ऐसा समा बाँध देगी कि सेक्रेट्रियेटके लोगोंको यही समझना मुश्किल हो जायेगा कि हॉलमें योजना-आयोगकी मीटिंग हो रही है या कोई लोकगीत-गोष्ठी। इस हालतमें तुम्हीं बताओ कि योजना कहाँ बनेगी और कौन बनायेगा?”

ठहरो-ठहरो, भृकुटियाँ न चढ़ाओ। मैं समझ गया कि तुम मेरी बात-का प्रतिवाद करनेके लिए उफन रही हो, पर उस प्रतिवादकी कमर तोड़ने-के लिए मेरे पास अनुभवोंकी मजबूत लाठी है। मैं पूछता हूँ, तुम उस दिन मेरे साथ सत्यनारायणकी कथामें गयी थी। सच कहो, तुम और तुम्हारी सहेलियाँ वहाँ चुप रहो थीं? याद है बेचारा हरनारायण तो हाथ जोड़ते-जोड़ते परेशान हुआ ही, पर दो बार तो कथा-वाचकजीको भी सख्त-मुरमें कहना पड़ा था। अब बताओ, भगवान्की कथामें जो लोग चुप नहीं रह सकते, वे योजना-आयोगकी बैठकमें चुप रह जायेंगे?”

“चचा, यह तो खूब निशाना मारा आपने, पर यह तो बताइए कि इसे सुनकर चचीने क्या कहा? क्या वे मान गयीं आपकी बात?”

“अरे भैया, रामका नाम लो; मेरी बात मानना तो उनकी जन्म-कुण्डलीमें ही नहीं लिखा है। तड़ाकसे बोलों, अजी रहने भी दो इन

घिसी-पिटी बातोंको । हमारे देशमें स्त्रियाँ गवर्नर हैं, राजदूत हैं, मन्त्री हैं । घरमें कही-सो कही, बाहर न कहियो; कोई सुनेगा, तो खिल्ली उड़ायेगा ।”

“मैंने कहा, खैर, चलो तुम्हारी ही बात ठीक सही । मैंने मान लिया कि वे चुप हो जायेंगी और योजना बन जायेगी, पर इसमें कोई शक नहीं कि इस्पातके कारखाने ठप पड़े रहेंगे और लिपस्टिक-पाउडरके कारखानोंकी भरमार हो जायेगी । इसके लिए किसी ज्योतिषोसे पूछनेकी जरूरत नहीं, तुम्हारी ज्योतिष ही काफ़ी है कि जिस महीने तुम्हारे हाथ रुखे लग जाते हैं, श्रृंगार-मेज शमझमाती रहती है और रसोईके बरतन खाली पड़े ठमठमाते रहते हैं ।”

“चचा, इस बातको सुनकर तो चचीने शर्तिया हार मान लो होगी ? है न यही बात ?”

“अरे भैया, उन्हें हार पहननेका इतना शौक है कि हार माननेका अवकाश ही नहीं रहा । फिर एक पुरानी कहावत है कि सरकार और स्त्रियाँ हार जाती हैं, पर हार स्वीकार नहीं करतीं । तो फिर तुम्हारी चची ही हार क्यों मानती ? तपाकसे बोलों, पता नहीं इस तरहकी बातें तुम पुरुषोंके दिमागमें कहाँसे आती हैं । एक महिला इंजीनियर छात्रसे एक पुरुष-पत्रकारने पूछा था कि क्या आपको विश्वास है कि आप बाँधोंका निर्माण कर सकेंगे ? उसने करारा उत्तर दिया, हम पुरुषोंका निर्माण करनेमें समर्थ हैं, तो बाँधोंका निर्माण क्या चीज़ है ? बेचारा अपना-सा मुँह लेकर रह गया !”

“अच्छा चचा, बातचीतका अन्त क्या हुआ ?”

“अरे, अन्त क्या होता; यों ही बातें होती रहों, उन्होंने अपनी कही, मैंने अपनी; वे अपनी जगह रहों, मैं अपनी जगह !”

“ठीक है चचा, वह भी काना, तुम भी काने, दोनों भूने कच्चे दाने !”

“वह भी काना, तुम भी काने; दोनों भूने कच्चे दाने ! क्या मतलब तुम्हारी इस बातका ?”

“मतलब क्या होता ? मतलब यही है कि यह प्रश्न भी काना है और इसकी बहस भी । दोनों एकांगी हैं; क्योंकि आर्थिक व्यवस्था हो या समाज-की कोई और व्यवस्था, उसे स्त्री या पुरुषमें बाँटा ही नहीं जा सकता । स्त्री और पुरुष समाजकी एक ही तसवीरके दो पहलू हैं और उनमें समन्वय ही सब योजनाओंकी पूर्तिका एक मात्र मार्ग है । कहिए, है या नहीं ?”

“हाँ भाई, ठीक है तुम्हारी बात । स्त्री और पुरुष अलग-अलग रह ही नहीं सकते । स्त्री है प्रेरणा, पुरुष है संघर्ष । प्रेरणाके बिना संघर्ष लँगड़ा है; संघर्षके बिना प्रेरणा एक खयाली पुलाव । दोनों एक ही सिक्के-के दो पहलू हैं और सिक्का तभी सिक्का है, जब उसके दोनों पहलू साफ़-सुथरे हों और एक-दूसरेके साथ हों; नहीं तो वह सिक्का नहीं, धातुका एक टुकड़ा है । इसलिए जो बहस दोनोंको अलग या विरोधी बनाती है; उसका अन्त होना ही लाभदायक है ।”



मतभेदके उन क्षणोंमें

सन् १९३२के स्वतन्त्रता-आन्दोलनकी बात है ।

उत्तर प्रदेशकी एक जेलमें वह भी एक राजनीतिक बन्दी थे — हममें-से एक, पर निहायत दिलचस्प आदमी । लोगोंको अकसर उनके कारण हैसनेका मौका मिलता, पर अपने हौलूपनसे न वह तंग थे, न दूसरे । बात यह थी कि अपने हौलूपनको वह अपनी विशेषता मानते थे और दूसरे साथियोंके लिए जेलके उस सुने-से वातावरणमें उनका हौलूपन एक अच्छा-खासा मनोरंजन था ।

यों अपनेसे वह भी प्रसन्न थे और हम भी, पर एक दिन तो वह इतने दिलचस्प हो उठे कि जेलके जीवनमें उन्हें छोड़ और किसीकी चर्चा उठी ही नहीं । बात यह हुई कि एक वृक्षकी छायामें बैठे, वह तन्मय हो, किसीका पत्र पढ़ रहे थे — बाहरी दुनियाको भूल, अपनेमें डूबे ।

कुछ मित्र उधरसे निकले, तो पूछा, “यों मजनू बने किसका पत्र पढ़ रहे हो, भाई ?”

पत्रसे बिना आँख हटाये उन्होंने कहा, “जेलसे वाइफ़का पत्र आया है ।”

बातचीतमें यह भी कि “वाइफ़को अभी कुछ दिन हुए इमर्जेन्सी पावर आर्डिनेन्सके मातहत एक वर्षका कारागार मिला है और वह अब ‘ए क्लास’में है ।”

मित्रोंने उनकी बात सुनी, तो उनपर उनका रोब छा गया और दूसरे साथियोंमें भी इसकी चर्चा हुई ।

इसके दो-तीन सप्ताह बाद उन्हीं महाशयसे एक महिला जेलमें मिलने आयी । आधे घूँघटमें मुँह छिपाती-सी, लजाती-सकुचाती, आँसू बहाती और उसने झुककर उनके पैर भी छुए ।

साथियोंने पूछा, तो बोले, “मेरी पत्नी थी; बड़ी सीधी है बेचारी।”

सुनकर सब भड़क उठे, “बड़े झूठे हो जी ! उस दिन तो रोब दे रहे थे कि वह जेलमें है !” सबको आशा थी कि वह झूठपर झेंपेंगे, पर वह झेंपे नहीं, अकड़कर बोले, “यार, तुम लोग भी निरे बौढ़म हो ! उस दिन जेलसे वाइफ़ का पत्र आया था और आज मिलने आयी थी पत्नी; तुम वाइफ़ और पत्नीका अन्तर भी नहीं जानते ?”

सब लोग हँस पड़े, पर पीछे पता चला कि श्रीमान्जी एक-साथ दो श्रीमतियोंके स्वामी हैं। उनमें-से एक ब्राह्म विवाह-द्वारा प्राप्त हुई थी, तो दूसरी गान्धर्व विवाह-द्वारा। पहली घरमें रहती है, भोजन-पानीकी व्यवस्था करती है और दूसरी भाषण देती है, बीमाके केस लाती है, चुनाव लड़ाती है और जेल जाती है।

बन्दी-घरमें बहुत दिनोंतक वाइफ़ और पत्नीको लेकर मनोरंजन रहा, पर मेने अकसर सोचा है कि वाइफ़ और पत्नीमें क्या कोई अन्तर है ? या कोई अन्तर नहीं है ? मेरे मनने हमेशा इन प्रश्नोंका उत्तर दिया है — दोनोंमें अन्तर तो है ही। वह अन्तर क्या है ?

पत्नी माने वाइफ़ और वाइफ़ माने पत्नी; एक शब्द है हिन्दीका और दूसरा अँगरेज़ीका, जैसे गॉड माने ईश्वर और ईश्वर माने गॉड — फिर वह अन्तर कहाँ है ?

मन कहता है कि अन्तर अवश्य है, पर बुद्धि झुंझलाकर पूछती है— क्या अन्तर है ? कहाँ अन्तर है ? बुद्धिका प्रश्न सार्थक है, पर मन उसका उत्तर नहीं दे पा रहा है।

एक मित्रके घर उस दिन अतिथि था। मित्र बड़े आदमी हैं, भले आदमी हैं, पर तुनक-मिज़ाज हैं। उस दिन बातों-बातोंमें अपनी पत्नीपर झट्टला पड़े। बात कुछ बात न थी, बतंगड़ बन गयी। पत्नीपर गालियोंकी बौछार पड़ी — नौकरोंके सुनते, मेहमानोंके देखते ! स्वाभाविक है कि उस बेचारीके आत्माभिमानको ठेस पहुँची, दुःख हुआ और आँखोंमें आँसू आ

गये। वह गुमसुम अपने कमरेमें जा लेटीं, भोजन भी उन्होंने नहीं किया, पर मैंने आश्चर्यसे देखा कि ज्यों ही समय हुआ, उन्होंने उठकर चाय बनायी, पकौड़ियाँ उतारीं और ट्रेमें ढंगसे सब चीजें लगाकर हमारे कमरेमें भेज दीं।

शामके भोजन, सोनेके लिए बिस्तर और दूधका प्रबन्ध भी उन्होंने किया — दूध तो वह स्वयं आकर ही दे गयीं। इस तरह उन्होंने अपनी सब जिम्मेदारियाँ पूरी कीं और अपने पति या उनके अतिथिको कोई असुविधा नहीं होने दी, पर उनका चेहरा उदास रहा, वाणी मौन ही रही—पतिके पुकारने, फुसलानेपर भी वह बोली नहीं।

मैं सोचने लगा—मेरे देशमें दस-बीस नहीं, हजारों ऐसे पति हैं, जो अपनी पत्नीको रूईकी तरह धुनते ही नहीं, लात-धूसों और डण्डोंसे सड़ककी तरह कूटते भी हैं। धुनाईके बाद रूईके रेशे भी घण्टों फुंदकते रहते हैं, पर भारतकी नारी अपनी धुनाईके कुछ क्षणों बाद नस-नसमें कराहती पीड़ाको भुलाकर हँसती है और उसी पुरुषके भोजन, विश्राम और मनोरंजनकी चिन्ता करती है।

मैं अपने चिन्तनमें गहरा उतर गया—क्या यह अहिंसा और हिंसाका मोर्चा है ?

गान्धीजीका कहना है कि अहिंसा शत्रुका भी हृदय परिवर्तन कर देती है, पर भारतकी नारी तो नये परीक्षणमें जैसे असफल हो गयी है उसका जीवन तो अहिंसाके विरुद्ध हिंसाकी विजयघोषणा-सा है।

जाने मैं क्या-क्या सोचता रहा। अन्तमें मैं फिर वहीं आ गया जहाँ अतिथि था और अपने मित्रकी पत्नीके मनका, उसकी मनोवृत्तिका विश्लेषण करने लगा। वह दिन-भर मौन रही है, पतिके प्रयत्न करनेपर भी वह बोली नहीं है। इस मौनका अर्थ है प्रतिवाद। अपने पतिके मूर्खतापूर्ण व्यवहारके विरुद्ध विरोधका मानसिक प्रदर्शन। पत्नी निर्जीव नहीं है। वह सजीव मानव है—स्नेहसे प्रसन्न होनेवाली तो अपमानसे क्रुद्ध एवं दुःखी होनेवाली।

वह सद्भावका स्वागत करती है, और असद्भावका विरोध। यह नहीं कि उसे अनुभूति न हो, उसमें आत्मबोध न हो; उसे अपने स्वरूपका ज्ञान है, अधिकारका पता है। वह पशुकी तरह अंकुश नहीं चाहती, साथी की तरह प्रेरित होना उसे अभीष्ट है और तब मैंने सोचा—उसका यह सघन मौन उस पशुताका प्रतिवाद है, जो पतिने उसके प्रति प्रदर्शित की।

मुझे लगा कि वह पशुता मेरे मनको चारों ओरसे घेर रही है और मैं उससे घुट रहा हूँ। इस घुटनमें कुछ प्रश्न मेरे भीतर चमक उठे—पत्नी इस पशुताके विरुद्ध विद्रोह क्यों नहीं करती? जिस पतिकी दृष्टिमें उसके मन और मानका कोई मूल्य नहीं, उसे वह दुत्कार क्यों नहीं देती? उसके जीवन, आराम और मनोरंजनको चिन्ता क्यों करती है?

जाने अन्तरके किस कोनेसे मुझे मेरे ही प्रश्नोंका उत्तर मिला — वह भारतीय नारी है, अतीतके संस्कारोंसे बँधी; और बँधी क्या, वे संस्कार ही उसका ज्ञान हैं, वे ही उसके जीवनकी प्रेरणा। उन संस्कारोंके अनुसार वह अपने पतिको सुधार सकती है, छोड़ नहीं सकती, वह पति जैसा भी है, उसका है। अपना बेटा निखट्टू हो, तब भी छोड़ा नहीं जाता, तो फिर पति ही अपराध करनेपर हृदयसे दूर कैसे किया जा सकता है? उसे समय-पर भोजन और विश्राम देनेका जो उत्तरदायित्व पत्नीका है, वह उससे पतिके अपराधी होनेपर भी कैसे मुक्त हो सकती है?

सहसा मेरा मन प्रकाशसे भर गया और मैंने सोचा — अपराध और अपराधीको पृथक्-पृथक् देखने और अपराधके प्रति स्नेहमयी दया-भावना रखनेकी अहिंसात्मक प्राण-प्रतिष्ठा भारतीय नारीको इसी संस्कार-स्रोतसे प्राप्त है और यहीं वह महान् है।

भारतीय नारीके प्रति इस चिन्तनसे मनमें आदरका जो भाव उपजा, उसीमे-से फूट आया एक नया प्रश्न : ठीक है, अपने संस्कारके कारण भारतीय नारी महान् है, पर हमारे समाजमें उस नारीको अपनी इस महान् संस्कार-साधनाका क्या मूल्य मिला? कवियोंने उसका गुणगान गाया,

वक्ताओंने उसकी महत्तापर भाषण दिये, श्रोताओंने तालियाँ बजायीं और लेखकोंने पुस्तकें लिखीं; यह सब बहुत अच्छा है, पर सीधा प्रश्न तो यह है कि उसे जीवनमें क्या मिला ? इस प्रश्नका उत्तर है — गालियाँ, मार-पीट, अपमान, घुटन और आँसू ! तब उस प्रशंसाका क्या मूल्य ? मूल्य, माने उपयोग — वह प्रशंसा उसके किस कामकी ? उलटे, एक कंगालको लक्ष्मीघर कहना उसका अपमान ही तो है ?

प्रश्न मार्मिक है, बेधता है और तक्राजा भी करता है कि इसका उत्तर भी दिया जाये, पर उत्तर सामने नहीं है कि उसे यों ही पा लें, उसे खोजना है, पाना है । इसीके लिए मैं इतिहासकी कन्दराओंमें घूम रहा हूँ, पर किसी नक्शेको लेकर नहीं और लो, जा पहुँचा हूँ सृष्टिके आरम्भमें, जब मनुष्य भी एक जंगली जानवर ही था ।

पुरुष स्वतन्त्र था कि जब, जहाँ, जिसके पास चाहे जा बैठे, पर नारी अपने मातृत्वसे बँधी हुई । नन्हा शिशु उसकी गोदमें और संघर्ष एवं खतरोंसे भरा जंगली जीवन सामने — अपनेसे अधिक अपनी सन्तानकी चिन्तासे ग्रस्त-परेशान । तब उसने धूप-वर्षा और जंगली जीवोंसे अपने बालकको बचाने-के लिए घर बनाया और उसमें अपने बालकका अंगरक्षक बना, पुरुषको प्रतिष्ठित कर दिया; तो घरकी अधिष्ठात्री नारी ही है, पुरुष नहीं !

यही घर इतिहासकी घाटियोंसे गुजरता अपने पूर्ण रूपमें आ गया और इतिहासकी परिस्थितियोंके कारण ही भारतकी सामाजिक मर्यादाका केन्द्र-बिन्दु बन बैठा ! परिवारको केन्द्र बनाकर ही भारतकी सभ्यता उस ऊँचाई तक पहुँची कि वह विश्वका गुरु कहलाया । इतिहासकी परिस्थितियोंके कारण ही भारत उस ऊँचाईसे गिरा और इस निचाईतक पहुँचा कि उसका सब-कुछ डूब गया । हाँ डूब गया और उसके पास कुछ भी न बचा ।

इतिहासका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—फिर भारत जीवित कैसे रह गया ? चारों ओरसे घुटकर, बाहर कहींसे साँस न पाकर भी वह अपने जीवनको, आन्तरिक व्यक्तित्वको कैसे बचा पाया ? इसलिए कि उस घुटनमें

भी उसका परिवार अपनी सम्पूर्ण ताजगी और सुगन्धके साथ बचा रहा । धर्म-निष्ठाने भारतकी समग्रताको बचाये रखा, तो परिवारने उसकी आत्म-निष्ठाको और यों जीवनका स्वास्थ्यवर्धक रस मिलता रहा, वह सूखनेसे बच गया ।

बड़ोंकी सामाजिक दुर्ग-व्यवस्थाका अभिनन्दन कि भारतका परिवार, राष्ट्रके पतनकी आखिरी घड़ियोंतक; जहाँसे फिर नव-निर्माण आरम्भ हुआ, बहुत-से सभ्य-समृद्ध देशोंके परिवारसे मीठा रहा, शक्तिवर्धक रहा, संरक्षक रहा — [जीवनके लिए, व्यक्तिके जीवन-विकासके लिए प्रेरक, उपयोगी रहा और इसका श्रेय भारतकी नारीको है; उसने ही परिवारको सुखने और मिटनेसे बचाया ।]

उसमें अहिंसा थी, सहन-शक्ति थी, अपनेको शून्य बनाकर सबको अपनेमें समानेकी क्षमता थी, इसीलिए वह परिवारका संरक्षण कर सकी । उसमें यह क्षमता न होती, तो पुरुषकी व्यग्रता एवं पशुता कभी भी भारतकी परिवार-संस्थाको क्षत-विक्षत कर डालती और उसका अर्थ होता भारतका विनाश; उसकी सामाजिक मर्यादाकी समाप्ति ।

नारीने अपनी श्रद्धासे, अपराध और अपराधीको पृथक्-पृथक् देख सकनेकी अहिंसक क्षमतासे; हमारे राष्ट्रमें सामाजिक मर्यादाके केन्द्र परिवारकी जो रक्षा की, वही उसके युग-युगान्तरव्यापी आँसुओंका मूल्य है; यह है उस प्रश्नका उत्तर कि नारीको उसकी संस्कार-साधनाका क्या मूल्य मिला !

विचारोंकी धाराका प्रवाह कितना तेज है । मैं सोच रहा था, जेल-जीवनमें उस दिन मनमें उठे इस प्रश्नका उत्तर कि क्या वाइफ और पत्नीमें कुछ अन्तर है ? और है, तो वह क्या है ? पर सोच गया जाने क्या-क्या और अब उस सोचसे बाहर निकला हूँ, तो सोच रहा हूँ कि इस लम्बे चिन्तनमें उस प्रश्नका उत्तर है या नहीं, और है, तो वह क्या है !

वह उत्तर यह है कि अपराध और अपराधीको अलग-अलग देख सकनेकी, अप्रसन्न होकर भी, अपमानित एवं दुःखी होकर भी, अपने उत्तरदायित्वसे न भागनेकी यह अहिंसा-वृत्ति ही नारीको पत्नी बनाती है और जहाँ यह नहीं है, अपराध करनेपर पतिके प्रति उत्तरदायित्व छोड़नेकी हुंकार है, वहाँ नारी वाइफ है - विवाहिता है, पत्नी नहीं है, मालकिन नहीं है।

यहीं यह भी कहूँ कि राष्ट्रीय सामाजिकताके ह्रासके साथ-साथ भारतीय नारीकी यह अहिंसा-वृत्ति उसकी विवशता बन गयी है कि वह न सहे, तो फिर क्या करे ? कहाँ जाये ? ठौर कहाँ है ? राह कहाँ है ?

नवयुगकी चेतना समाज-व्यवस्थाका नया संस्करण करनेमें जुट गयी है। हमारा संविधान समान अधिकार और समान अवसरकी घोषणा कर चुका है और कल हम जिस वातावरणमें साँस लेनेवाले हैं, वह इतना निर्मल होगा कि उसमें नर और नारी दोनों अपने पैरोंपर खड़े होंगे और पूरे सोच-विचारके बाद दो जीवनोंकी ऐसी समन्वित गाँठ बाँधेंगे कि परिवारमें पुरुषकी पशुता और नारीकी विवशताका धुँआ प्रवेश ही न कर सके।

हम सब आज ही उस दिनका अभिनन्दन करें और उस दिनको समीप लानेमें भागीदार होनेका संकल्प लें।



इलाज क्या है ?

“आओ भाई, पधारो। आज तो तुमने ऐसा रूप बना रखा है कि यार, कोई दिल्लीके चाँदनी चौक या नयी दिल्लीके कनाॅट प्लेसमें तुम्हें देखे, तो बिना जान-पहचानके भी तुम्हारा नाम लेकर ही तुम्हें पुकारे और सच मानो, वह नाम तुम्हारे लिए ऐसा फिट बैठे कि बस और तो और तुम भी दाद दो कि वाह भई, क्या नाम रखा गया है हमारा !”

“अजब तरीका है यह आपका कि हम आये थे कुछ सलाह करने, कुछ सान्त्वना पाने और आपने आव देखा न ताव, बस छोड़ दिया बारूदका तैयार। आपको मालूम है, हम ऐसे मौकेपर आस्तीन चढ़ा लेनेके आदी हैं, पर भाई कुदरतके कानूनको हम क्या करें कि आप हैं हमसे उम्रमें साढ़े सात दिन बड़े कि आपकी बकवाद भी हमारे लिए वाद और हमारा वाद भी आपके सामने विवाद, तो हम आपके सामने आस्तीन तो किस माँका दूध पीकर चढ़ायेंगे, मूँछें भी नीची ही रखनी पड़ती हैं।”

“तो भाई, हमने ऐसी क्या बात कही कि तुम आस्तीन चढ़ानेकी बात करने लगे ?”

“खैर, जो कही सो कही, अब आप यह बताइए कि हमारा आजका रूप देखकर कोई अनजान आदमी दिल्लीके चाँदनी चौक या नयी दिल्लीके कनाॅट प्लेसमें हमारा क्या नाम रखेगा ?”

“तुम्हारा नाम ? तुम्हारा नाम रखेगा वह श्री झींकती मूरत या श्री रोनी मूरत; सिंह या शर्मा या गुप्त। कहो, ठीक है न ?”

“भाई साहब, आपका इरादा तो आज हो रहा है लड़नेका और इस-लिए चुभा रहे हैं एकके बाद एक काँटा हमारे दुखते दिलमें !”

“ओहो, तो श्रीमान्जीका दिल दुःखी है आज । भला हमें क्या पता था इस बातका, नहीं तो हम आते ही आपको बधाई न देते !”

“बधाई ? किस बातकी बधाई ?”

“यही दिल दुखनेकी बधाई और किस बातकी बधाई !”

“अच्छा, तो दिल दुखनेपर भी बधाई दी जाती है आपके यहाँ ? यही इनसानियत है आपकी !”

“अरे भाई, इसमें मेरी इनसानियत-मनुष्यताका प्रश्न कहाँ आ घुसा; यह तो सन्तोंका उपदेश है ।”

“अच्छा जी, यह सन्तोंका उपदेश है कि कोई दिल-दुखता आदमी आपके पास आये, तो आप उसे बधाई दें । कुएँमें गयी सहानुभूति और खड्डेमें जा मरी समवेदना; आप तो उसे बधाई देंगे और यह आपके सन्तोंका उपदेश है !”

“तुम्हारी तो आदत है झक मारनेकी । अबतक मुझे कोस रहे थे, तो अब सन्तोंको लिपट गये । लो सुनो, तुम्हें समझा दूँ यह गूढ़ रहस्य ।”

“जी हाँ, समझाइए यह गूढ़ रहस्य ।”

“समझा तो रहा हूँ भले मानुष, और समझाना भी क्या है इसमें ? सन्तोंका वचन है ‘दुखिया सब संसार’ — सारा संसार दुखिया है, तो जब-तक तुम दुखिया नहीं थे, तबतक संसारसे बाहर थे और अब तुम दुखिया हुए, तो संसारके साक्षीदार हो गये । अब बताओ मेरे प्यारे भौन्दू कि कोई अपनी बिरादरीमें आये, तो उसे बधाई देनी चाहिए या दुत्कार ?”

“अच्छा यह बात है कि आप इस समय मज्जाक़की मूडमें थे, पर भाई साहब, जब अपना दिल दुःखी होता है, तो किसीकी हँसी भी अच्छी नहीं लगती ।”

“खैर, हमारी हँसीका मूड था या नहीं, पर विश्वास करो कि वह अब रौनेका हो गया है । हाँ, मजबूरी है हमारी कि हमारी आँखें हैं पत्थरकी, तो आँसू उनसे बहाये नहीं जाते । हाँ, पूरी गम्भीरतासे हम अपनी सूरतको

तुम्हारी ही तरह रोती-झींकती-सी बनाकर पूछ रहे हैं तुमसे कि अब तुम साफ़-साफ़ यह बताओ कि यह दिलका दुःख या दुखता दिल है क्या ? देखो, फिर न भड़क उठना, हमारा प्रश्न सिर्फ़ यह है कि वह दुःख क्या है, जो तुम्हारे दिलको इस तरह जकड़े है, इस तरह जकड़े है कि जैसे जंगलमें अजगर हिरनके छोटे-मोटे बच्चेको जकड़ लेता है ।”

“सचमुच भाई साहब, हम तो अजगरके ही चक्करमें फँस गये हैं और फिर जंगलका अजगर तो जकड़ता है किसीको कभी-कभी ही, पर यह घरका अजगर तो चौबीस घण्टेका है । फिर उस अजगरसे दूर रहा जाता है और आमने-सामने हो, तो गोली मारी जा सकती है, पर घरके साँपकी तो कील भी नहीं भाई साहब !”

“घरका अजगर, घरका साँप, क्या कह रहे हो तुम ? घरमें कोई साँप आ गया है क्या ? ऐसा है, तो किसी सँपेरेसे उसे क्यों नहीं पकड़वा देते ?”

“हाँ भाई साहब, घरका अजगर और घरका साँप, पर कहींसे आया हुआ नहीं, समारोहके साथ घरमें लाया हुआ और जिसे पकड़नेवाले सँपेरे कमसे-कम इस देशमें तो है नहीं !”

“अच्छा, अब यह पहली छोड़ी और साफ़-साफ़ बताओ कि बात क्या है ?”

“बात तो साफ़ ही है भाई साहब, चंगूकी माँ मेरी ज़िन्दगीका साँप हो गयी है और मेरे लिए जीना एक जंजाल बन गया है ।”

“चंगूकी माँ ! तुम्हारी बीबी ? ओह यह बात है ! ठीक ही है तुम्हारी बात । जब पति-पत्नीमें रोज़का मनमुटाव हो, तो घर साँपकी बाँबी हो जाता है, पर बात क्या है ? क्यों है मनमुटाव ?”

“अब क्या बात बताऊँ आपको ? कोई बात हो भी कि बताऊँ । बात कोई नहीं है और यों हर बातमें सौ बात हैं । अब लो कि मैं एक मोटी-सी बात आपके सामने रखता हूँ । मेरा आफ़िससे घर लौटनेका समय बँधा हुआ है । चार बजे तक दफ़्तरकी फ़ाइलोंसे मग़ज़ मारता हूँ

और तब पहुँचता हूँ साहबके बँगलेपर । वे फुरसतमें होते हैं और नहीं भी होते और इस तरह छह-पीने छह वहाँ बज जाते हैं । एक साल-भर तक बच्चोंका दूध बन्द करके अपने लिए सायकिल खरीदना मैंने स्वीकार नहीं किया, इसलिए पैदल चलकर कोई साढ़े छह बजे घर पहुँचता हूँ, तो देखता हूँ कि घर कुक्षेत्र बना हुआ है । बच्चोंमें कोई रो रहा है, कोई दूसरेसे लड़ रहा है और यों सबके-सब घमाचौकड़ी मचाये हुए हैं ।

घरकी व्यवस्थाका यह हाल है कि जो कपड़े रातमें बिछाकर सोया था, वे पलंगपर ज्योंके-त्यों पड़े हैं, बिना तह किये । मुझे उस समय ऐसा लगता है कि यह घर नहीं, जंगलका एक पड़ाव है, जहाँसे गाड़िया लुहारों-का क्राफ़िला अभी-अभी उठकर गया है, अब बताइए आप कि सुबह आठ बजे घरसे निकला हुआ और पूरे आठ घण्टे पिसा हुआ आदमी इस हवामें साँस ले सकता है या कोई राहत पा सकता है ?”

“तो अपनी पत्नीको शान्तिसे तुम क्यों नहीं समझाते कि वे तुम्हारे आनेसे पहले ही सब ठीक-ठाक रखा करें । आखिर तुम्हारी पत्नी पढ़ी-लिखी है, समझदार है । ऐसा तो नहीं कि यह मामूली बात वह समझ ही न सके ।”

“जो हाँ, वे पढ़ी-लिखी हैं और समझदार हैं और बातें भी कुछ कूटनीतिके सिद्धान्त नहीं कि इनकी गुथियाँ बस उलझीं सो उलझीं कि सुलझनेका नाम न लें, पर बात यह है कि वे इन्हें समझना ही नहीं चाहतीं; क्योंकि उनका मतलब तो मेरा खून फूँकनेसे है ।”

“ओह ! तुम तो गुस्सेमें यह सब बक रहे हो । भला कोई पत्नी अपने पतिका खून फूँकना चाह सकती है ?”

“अच्छा खैर, मेरी बात बकवाद ही सही, पर इसका क्या अर्थ आप लगायेंगे कि जब-जब मैं इस बारेमें कहता हूँ, तो वे गुराँकर उत्तर देती हैं, “नीचे गद्देदार कुरसी, ऊपर घूमता बिजलीका पंखा, सामने रखा रजिस्टर और हाथमें थमा पैन और बाबूजी पिस गये, पर यहाँ मैं चमनमें

बैठी-बैठी हरी ही हो गयी। बाबूजी, गीली लकड़ियोंके धुएँ और पत्थर-के कोयलोंको कड़कती तपनमें एक दिन काम करो, तो सिरपर चन्दनका लेप करते फिरो और फिर धुँआ और तपन ही तो नहीं है, ये साहबजादे और नवाबजादियाँ भी तो हैं, जिनके नखरे सँभालनेका काम पलटनसे भी नहीं सँभलता।” उनके हर जवाबकी भाषा अलग होती है, पर भाव यही होता है। अब आप ही बताइए भाई साहब, कि मैं क्या करूँ ?”

“मैं मानता हूँ भैया, कि तुम्हारी श्रीमतीजीके शब्द कड़वे हैं और कहनेका तरीका चुभता-काटता, पर यह बात भी ठीक है कि हमारे घरोंमें स्त्रियोंपर इतना काम रहता है, इतना काम रहता है कि करते-करते उनका कचूमर निकल जाता है और उनकी ज़िन्दगी एक मशीनकी ज़िन्दगी हो जाती है।”

“नहीं भाई साहब, कमसे-कम हमारे घरमें यह बात नहीं। वहाँ तो बात ज़िदकी है कि मैं जलूँ या फुकूँ, उन्हें वही करना है, जो करती आयी हैं। कहनेको मेरे पास सैकड़ों बातें हैं, पर सिर्फ़ एक ही आपके सामने रखता हूँ। एक रविवारको मैं सुबह जल्दी उठा और मैंने उनसे कहा, लो, कमरेकी सफ़ाई मैं करता हूँ और सब ठीक-ठाक भी। तुम चाय बनाकर मुँह-हाथ धो लो और कपड़े बदलकर चाय ले आओ। बच्चे अभी सो रहे हैं, दोनों साथ बैठकर चाय पियेंगे।

“वे रसोईमें चली गयीं, मैं कमरा साफ़ करने लगा। जाले झाड़े, बिखरी चीज़ोंको उनकी जगह लगाया, कपड़ोंकी तह करके उन्हें ठीक स्थानपर रखा, बिस्तर ठीक किये और तब झाड़ू लगायी। कमरा म्यूज़ियम-सा लगने लगा। तबतक श्रीमतीजी चाय ले आयीं। मैंने सोचा, चलो आज बहुत दिन बाद शान्ति और आनन्दसे चाय पियेंगे, पर श्रीमतीजीकी तरफ़ देखते ही खून खौल गया और जीमें आया कि ट्रेको फेंक दूँ।”

“क्यों क्या बात हुई ऐसी ?”

“बात क्या होनी थी उसमें ? वही ढाकके तीन पात, वे अब भी वही गन्दी साड़ी पहने थीं, जो कलसे पहने थीं। खैर, मैंने उफनते गुस्सेको थामा और उनसे कहा, लो मैं तबतक चाय बनाता हूँ तुम साड़ी-जम्पर बदल डालो। सुनकर मेरे पास बैठती-बैठती बोलों, आओ, पहले चाय पी लें, तब बदलेंगे कपड़े।

“मुझे आज नाराज नहीं होना था। चुपचाप पीने लगा। फिर भी मेरा ध्यान बार-बार उनकी साड़ीकी ओर गया। कभी मेरी आँखोंके कारण और कभी नाकके ओर इस तरह चाय कड़वी नहीं, तो फीकी जरूर हो गयी। खैर, हजामत बनाकर मैं नहाने गया, तो देखा कि वे उसी धोती-में रोटी बना रही हैं।

“नरमोसे मैंने कहा, “पहले कपड़े बदल लो ना, ज़रा ताज़गी आयेगी और खाना बनानेमें जी लगेगा।”

“उनका उत्तर था, “बस पाँच मिनटमें खाना बनाकर बदलती हूँ कपड़े।” मैं चुप हो गया, पर खाना परोसते समय भी उनकी देहपर वही कपड़े थे और तब उनका उत्तर था कि “बस खाना खाकर ही बदलूँगी एक साथ।” मैंने इसे ही काफ़ी समझा, पर जब वे खानेके कामसे निपट कर विश्रामके लिए आयीं, तो ज्योंकी-त्यों थीं और तब उनका उत्तर था यह कि “थक गयी हूँ, बस पाँच मिनट सो लूँ, तो बदलूँगी कपड़े।”

“भाई साहब, छोड़िए इस विस्तारको और यों समझ लीजिए कि तीसरे पहरकी चायपर भी वही साड़ी थी, वही जम्पर और तब एक चायके कपको चिरायतेके भुरतेकी तरह गलेमें उँडेलकर मैं बाहर चला गया और रातमें आया, तो यह कहकर सो गया कि खाना मैं श्यामसुन्दरके घर खा आया हूँ।

“अब बताइए आप ही कि यह सब जान-बूझकर खून फूँकना है या कुछ और ?”

“मैं मानता हूँ कि तुम्हारी बातमें गहरी सचाई है, पर यों नहीं कि वह बेचारी जान-बूझकर तुम्हारा खून फूँकना चाहती है, हाँ यों कि उसकी बातोंसे तुम्हारा खून फूँकता है, अब एक बात कहूँ दोस्त, कि किसी दिन तुम दोनों मुझे जज बनाओ, तो मेरा फैसला यह हो कि श्रीमतीजी भली नारी हैं, अपने पतिके लिए उनके मनमें बहुत अच्छे और कोमल भाव हैं, पर वे ज़रा लापरवाह हैं और लापरवाही उनकी आदत बन गयी है।”

“यह आपका अच्छा इन्साफ़ है कि जिसके कारण हमारी ज़िन्दगी आतिशबाज़ीका जला हुआ अनार हो गयी, उसे आप ज़रा लापरवाह कहकर ही छोड़े दे रहे हैं।”

“तुम अपनी जलनका वर्णन करते समय यह क्यों भूल जाते हो कि इन बातोंमें तुम तेज़ाब पीते हो, तो वह बेचारी भी रेफरीजिरेटरमें रखी शिकंजी नहीं पीती तुम्हें पता है कि मैं तुम्हारा ही नहीं, तुम्हारी बीबीका भी भाई साहब हूँ।”

“आप जो कह रहे हैं ठीक है और मैं ही यह कब कह रहा हूँ कि मैं ही जल रहा हूँ वह नहीं जलती। यह तो सचाई है कि मैं भी दुःखी हूँ, वह भी दुःखी है, पर प्रश्न तो यह है कि वह ऐसे काम क्यों नहीं करती कि वह भी सुखी हो और मैं भी सुखी हूँ।”

“तो भैया, तुम ही ऐसे काम क्यों नहीं करते कि घरमें सुख-शान्ति हो। इस हाय-हायसे तो यही अच्छा है कि तुम ही चुप रह जाया करो।”

“अच्छा तो आपकी राय यह है कि मैं हाय-हाय करता हूँ ? लीजिए, कलका ही किस्सा आपके सामने रखता हूँ ! चंगू और बेबी दोनों महा-उत्पाती बच्चे हैं और वे ऐसे न होते, तो होते ही क्या ? खैर छोड़िए इस लम्बी कहानीको, मैं जाने कैसे-क्या करके दिल्लीसे एक बहुत सुन्दर टी-सैट खरीद लाया था। देवीजीसे सौ बार कहा कि इसे तालेमें रखना, पर कहना मान लें, तो फिर वे क्या रहें ! तो जब देखिए बाहर, जब देखिए बाहर। आखिर कल वह घड़ी भी आ ही गयी, जिससे मैं डर रहा था और जिसे वे बुलावा दे रही थीं। चंगूने एक प्याला तोड़ दिया, एक

तश्तरीपर चाकूमे ऐसी भारी खरौचें मार दीं कि अब उसे मेजपर रखना प्रागैतिहासिक कालकी एक नयी खोजपर बहस करना है ।

“वेबो भला क्यों कमी करती । उसने सिलाई-कढ़ाईकी कलामें अपना कमाल दिखाया और कैचो लेकर मेरी नयी चादरमें वो फूल काटे कि विश्वकी प्रदर्शनीमें वह पुरस्कार पा ले । मैं कोई भूत या राक्षस नहीं कि अपने बालकोंको मार डालूं, पर उन्हें ताड़ना तो पड़ता ही है । मैं दोनोंका हाथ पकड़कर अपने कमरेमें खींच लाया, पर तभी दौड़ी-दौड़ी वहाँ आयीं श्रीमतीजी । वही मैली धोती और आटेमें लथ-पथ हाथ ।

“मैंने कहा, “तुम रसोईमें-से उठकर क्यों आ गयी ? पत्नीनेमें हवा खाकर फिर बोमार पड़ोगी ?”

“दोनों बच्चोंको मुझसे छीनतो हुई-सी बोलें, “मैं अपनी बीमारीको देखूं या अपने बच्चोंकी जानको ।”

“सच कहता हूँ आपसे भाई साहब, कि मैं फ़ैसला नहीं कर सका कि मैं उनकी इस बातपर हँसू या रो पड़ूँ । फिर भी मैंने अपनेको सँभालकर कहा, “तो क्या इन बच्चोंकी जान तुम्हें ही प्यारी है, मुझे नहीं ?”

“इसका उत्तर उन्होंने सिर्फ़ यह दिया कि वे अपने दोनों बच्चोंको खींच ले गयीं और इसका उत्तर मैंने सिर्फ़ यह दिया कि एक और प्याले-को फ़र्शपर दे मारा और इसका उत्तर उन्होंने सिर्फ़ यह दिया कि चूल्हेमें पानी फेंका और कमरेमें जा पड़ीं । चादर और प्याले तो चौपट हुए ही, भूख हड़ताल भी करनी पड़ी और छुट्टीका दिन आसनपाटी लिये कंकेयी-का पार्ट करनेमें बीता । बच्चोंको जो कुछ भला-बुरा हमने सिखाया, वह तो साफ़ ही है । एक बात और बता दूँ मैं आपको कि यह उस दिनका कोई खास नमूना नहीं था, यह तो हमारे घरकी आम बात है कि वे मेरे और बच्चोंके बीचमें कूदेंगी और ज़रूर कूदेंगी ।

“और फिर बच्चोंके और मेरे बीच ही मैं कूदें, तो कोई बात नहीं, मैं एक बार मनको पक्का करके मान लूँ कि इन बच्चोंकी माँ भी वे ही हैं,

तो बाप भी वे ही हैं, पर प्रश्न तो यह है कि इस घरमें मेरे भी व्यक्तित्व-का कोई महत्त्व है, यह वे स्वीकार ही नहीं करतीं। मैं अपनी गत पहचानता हूँ, इसलिए पहले तो किसी मित्रको घर लाता ही नहीं, पर छुट्टीके दिन कोई बिन बुलाये ही आ बैठे, तो उसे मना नहीं किया जा सकता।

“एक दिन मेरे आफ्रिके सुपरिण्टेण्डेण्ट आ गये। वे मेरे अफसर हैं और यह उनकी कृपा थी कि इधरसे निकले, तो दस मिनट मेरे घर भी रुक गये, पर वे दस मिनटें मुझे दस वर्षोंका नरक दण्ड होकर मिलीं। वे बैठकमें बैठे ही थे कि देवोजीने अपनी किसी सहेलीसे मेरा गुणगान जोर-जोरसे आरम्भ कर दिया, जो कुछ-कुछ इस प्रकार था, रानीजी, तुम्हारे पति तुमसे घण्टों बातें करते हैं और करते ही रहते हैं, पर हमारे स्वामीजीका विश्वास बातचीतमें नहीं मौनमें है। वे भारी सिरको हिलाना तो पसन्द करते हैं, पर नहीं जोभका हिलाना नहीं। हँसनेमें भी उनकी दिलचस्पी नहीं है। वे बहुत कृपालु होते हैं तो मुसकरा देते हैं। यह बात नहीं कि वे औरोंसे भी बोलते-हँसते नहीं हैं। जो नहीं, वे औरोंकी महफ़िलमें खूब चहकते हैं, पर अपनी श्रीमतीजीके मन-मस्तिष्कको वे शान्त रखना चाहते हैं, इसलिए मौन और मुसकानका उपहार ही वे हमें देते हैं।

“यह गुणगान सुनकर सहेलीजी बोलीं, “तो यह ठीक रहेगा कि इस बार महिला संघका जो उत्सव हो, उसमें उन्हें मौनी बाबाकी उपाधि दी जाये।”

“सुपरिण्टेण्डेण्ट साहबने यह प्रस्ताव सुना, तो वे जोरसे खिलखिला पड़े और उठ गये, पर दूसरे ही दिनसे दफ़्तरमें मेरा नाम मौनी बाबा पड़ गया और मैं वहाँ अब दूसरोंकी दिलचस्पीका एक खोमचा हो गया हूँ।

“अब बताइए आप कि मैं भी दुःखी हूँ और मेरी बोबी भी दुःखी है, पर इसका इलाज क्या है?”

वे मिले, वे बिछुड़े !

“भाई साहब, मैं बहुत दुःखी हूँ, मेरी कुछ मदद करोगे ?”

मेरे पड़ोसमें रहते थे एक सरकारी अफसर। यह उनकी बेटी है नीरू — स्वस्थ, सुन्दर, भली, इण्टरकी होनहार छात्रा; घरमें सब कुछ, इसे क्या दुःख व्यापा है, जो मेरी मदद चाहती है ? माँ चमेली, तो बाप गुलाब — मार-पीट राम-राम, वे कभी जोरसे बोलना भी नहीं जानते, पर कॉलेजसे लौटती यों मेरे पास आयी है, तो कुछ दुःख होगा ही !

पूछा, “क्या बात है बेटी ?”

बोली, “मेरे सिरपर हाथ रखकर कसम खाओ कि मेरी बात मानोगे, तब कहूँगी।” और तब उसने कहा, “मुझे कहींसे थोड़ा जहर ला दो।”

“जहर ?” चिनगारीपर जैसे मेरा पैर पड़ गया हो। धीरे-धीरे उसने बताया, “एक युवकके प्रणयमें आबद्ध हूँ मैं और उसके बिना जीवित नहीं रह सकती। हम दोनों एक दूसरेको समर्पित हो चुके हैं, पर जाति-बन्धनके कारण माता-पिता विवाहके लिए तैयार नहीं हैं, तो मर जानेके सिवाय मेरे पास मार्ग ही क्या है ?”

मैंने उसे आश्वासन दिया, धीरज दिया और दूसरे दिन मैं उस युवकसे मिला। एक भले घरका शिक्षित लड़का, पर मजनू और फ़रहादसे नौ कदम आगे — सब कुछ करनेको तैयार ! उसे भी मैंने आश्वासन और धीरज दिया, पर वह तो सातवें आसमानका जीव — “नीरू मेरी आत्मा है पण्डित-जी ! कोई अपनी आत्मासे अलग कबतक रह सकता है ? बताइए तो, कैसे रह सकता है ?”

मैं इस बारेमें सोच ही रहा था कि क्या करूँ कि स्वतन्त्रताका आन्दोलन छिड़ गया और मैं जेल चला गया। कुछ दिन बाद वहीं मैंने सुना कि

उन दोनोंने पासके एक शहरमें जाकर माता-पिताकी मर्जीके विरुद्ध विवाह कर लिया — लड़की अध्यापिका हो गयी और लड़का क्लर्क; दोनों आरामसे रहने लगे, पर दूसरे साल, जब मैं जेलसे बाहर था, मुझे उस लड़कीका पत्र मिला, जिसमें उसने लिखा था कि “मेरा इस राक्षससे पीछा छुड़ाओ। यह बात-बातपर मुझे पीटता है।” और कुछ दिन बाद ही उस लड़कीने कुएँमें कूदकर आत्म-हत्या कर ली !

मुझे इस घटनाने शकशोर दिया और मेरे मनमें एक प्रश्न उठा कि जो कल एक दूसरेके लिए शहद थे, वे आज नीम क्यों हो गये ? जो एक दूसरेके बिना जी नहीं सकते थे उनका एक दूसरेके साथ रहना भी असम्भव क्यों हो गया ? यों कहूँ कि प्यार-प्रणय जो अपने आरम्भमें अमर दिखायी देता है, आगे चलकर क्षणभंगुर क्यों हो जाता है ?

कोई चौथाई सदी तक मैं इस प्रश्नका, जीवनके खुले पृष्ठोंमें अध्ययन करता रहा और इस परिणामपर पहुँचा कि हर प्यार-प्रणय खण्डित हो जाता है, यदि प्रणयकी गाँठमें बँधे दो साथी एक दूसरेके पूरक न हों या पूरक न रहें !

मेरे एक मित्र हैं श्री आशाराम शुक्ल । पैदायशी कलाकार हैं वे । जीवनको उन्होंने देखा है, परखा है, भोगा है, जिया है, घर उजड़ा है, बसाया है । उस दिन बातों-बातोंमें बोले, “विवाहसे प्रेम या प्रेमसे विवाह-पर विद्वान् लोग लाख बहस करें और ये बहसें भले ही लाख साल तक चलती रहें, ‘लव मैरिज’ (प्रेम-विवाह) एक खतरनाक खेल ही रहेगा ।”

मैंने इस प्रश्नपर तबतक गहराईसे कभी विचार नहीं किया था, पर ऊपर-ऊपर बहुत बार सोचा था कि जिन दो स्त्री-पुरुषोंमें प्रेम है, वे विवाह कर लें, कर पायें, तो यह एक सुखद घटना हो होगी; इसलिए चौंककर पूछा, “क्यों, खतरनाक खेल क्यों है प्रेम-विवाह ?”

गम्भीर होकर बोले, “बहुत-सी बातें सुननेमें बहुत मजेदार लगती हैं, पर व्यवहारमें वे रसहीन हैं; ऐसी ही एक बात है यह प्रेम-विवाह, पर सचमुच किसी प्रेम-विवाहकी सफलताके चान्स बहुत ही कम हैं ।”

“क्यों ?” मेरी यह ‘क्यों’ पहली ‘क्यों’से बहुत पनी थी, पर अत्यन्त सन्तुलित स्वरमें वे बोले, “दो स्त्री-पुरुषोंमें प्यार उपजता है, उमड़ता है, वे रस-विभोर हो उठते हैं, सब कुछ भूल जाते हैं और सब कुछ छोड़कर, सब कुछ तोड़कर विवाह कर लेते हैं। बस यहीसे परेशानी आरम्भ हो जाती है; क्योंकि विवाह होते ही पुरुष प्रेमीसे पति बन जाता है, पर अकसर स्त्री प्रेमिका बनकर फिर सुगमतासे पत्नी नहीं बन पाती। प्रणयकी धारा है — सब कुछ छोड़ दो, सब कुछ तोड़ दो; पर परिणयकी, विवाहकी धारा है — सबको साथ लो, सबको हाथ दो। बस इस दिशा-भेदमें ही झगड़ेकी जड़ पनपती है और दोनोंका जीवन बोझ हो उठता है !”

सुनते-सुनते मुझे याद आ गयी एक विदेशी विद्वान्की बात कि एक जवान लड़कीने उससे पूछा, “एक तरुण हर समय मेरे पीछे लगा रहता है, मैं क्या उपाय करूँ कि उससे पीछा छूटे ?”

विद्वान्ने कहा, “तू उससे विवाह कर ले, बस कुछ दिनमें वही तुझसे पीछा छुड़ानेके उपाय पूछता फिरेगा !”

हम तुम मिले न थे तो जुदाई का था खंयाल !

अब यह मलाल है कि तमन्ना निकल गयी !!

मिलनेकी बेचैनी, मिलन और मिलनेकी तमन्ना तक न रहना; यह क्या सिलसिला है ? इसका रहस्य क्या है ? मेरे मित्र बॉले, “प्रणय चल रहा है, छलक रहा है; प्रेमी-प्रेमिका मिलते हैं। कुछ देर बाद प्रेमिका कहती है, “चलूँ, माँ इन्तज़ार कर रही होगी;” तो उत्तर मिलता है, “अरे, मरने दो माँको, बैठो भी !” बातोंमें झूमते भोजनका समय हो आता है, तो प्रेमिका कहती है, “लो तुम बैठो, मैं दो-चार पराँवठे बनाती हूँ” तो उत्तर मिलता है, “अरे बैठो भी, बाज़ारसे खाना मँगाते हैं।”

यों ही चलती रहती है अन्धी गाड़ी, पर विवाह होते ही पति महाशय चाहते हैं कि पत्नी मेरी माँका पूरा ध्यान रखे; और बाज़ारसे खाना ? इसका क्या मतलब ? बाज़ारमें खाना था, तो घर क्यों बसाया ? बस यों

टकरा जाते हैं दोनों और यह रोज-रोजकी टकराहट एक दिन दोनोंको तोड़ देती है। वही बात कि हर प्यार-प्रणय खण्डित हो जाता है, यदि प्रणयकी गाँठमें बँधे दो साथी एक दूसरेके पूरक न हों या पूरक न रहें !

‘आकाशके तारे, धरतीके फूल’की एक लघु-कथा इस प्रकार है,

“मैं उस दिन अपने एक मित्रके घर गया, तो देखा वे और उनकी पत्नी आपसमें लड़ रहे थे। मैं अपने मित्रको एक मिठाई मानता था, कोई दस वर्षोंसे हमारा सम्बन्ध था, पर आज तो वे कड़वे नीम हो रहे थे।

मैं दोनोंको शान्त कर उनका मन बदलनेके लिए अपने साथ घूमने ले चला। मैं उन दोनोंसे इधर-उधरकी बातें करता, उन्हें हँसाता-बहलाता जा रहा था, पर मेरे भीतर जिज्ञासा मचल रही थी, मेरे मित्रके स्वभावकी मिठासमें यह नीम कहाँसे आ घुसा ?

तभी रास्तेमें आ गयी एक घड़ीकी दुकान। हम तीनों उसमें चले गये—मुझे अपनी घड़ीके बारेमें कुछ पूछना था।

मित्रकी पत्नीके हाथमें सोनेकी घड़ी थी और उसमें एक सुकुमार फ़ीता, पर उन्होंने दुकानदारसे एक नया फ़ीता खरीदकर अपनी घड़ीमें फिट करा लिया। यह नया फ़ीता बहुत घटिया-मर्दाना और उस घड़ीके सौन्दर्यको दबा देनेवाला था।

हम तीनों फिर चल पड़े, पर मैं अब यह जान चुका था कि मेरे मित्रके स्वभावकी मिठासमें यह नीम कहाँसे आ गया !”

बड़ी ही सूक्ष्म और सांकेतिक कहानी है यह और इसके संकेतमें प्रणयकी पूरकताका एक परिपूर्ण अध्याय समाया हुआ है। नारी खुद-पसन्द है। वह अपनी रायको ही महत्त्व देती है और यह राय विवेकपर नहीं, मूडपर आश्रित है, तभी तो वह सुकुमार फ़ीता फेंककर घटिया-मर्दाना फ़ीता खरीदती है और यह भी भूल जाती है कि उसका पति कितने शौकसे यह फ़ीता लाया था उसके लिए। वह यह अनुभव नहीं कर पाती कि उसने

घड़ीसे उखाड़कर फ्रीता नहीं फेंका, अपने पतिका कलेजा ही काटकर दूर फेंक दिया !! दोनोंमें-से किसी एकका भी खुद-पसन्द होना, अपनी ही रायको महत्त्व देना, दूसरेकी राय-रुचिको नगण्य मानना भयानक है; क्योंकि स्वभावका यह दोष हृदयोंके समन्वय और सामंजस्यको तोड़ देता है और प्रणयकी बेलमें नित नयी कोपलोंका उगना बन्द हो जाता है ।

प्रणयकी इस स्थितिके सम्बन्धमें मेरे विचार-मित्र श्री खलील जिब्रान-के दो सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । पहला कि — “जो प्रेम-प्रणय नित नया नहीं होता रहता, वह एक आदतका रूप धारण कर लेता है और फिर ? बन्धन बन जाता है” और दूसरा कि — “जो प्यार-प्रणय सदा उमड़ता नहीं रहता, वह सदा कम होता रहता है ।”

खुद-पसन्दी, उद्वेग, असहिष्णुता प्रणयको खण्डित कर देते हैं और सहिष्णुता उसकी पूरकताको पनपनेका अवसर देती है ।

भाई ब्रह्मदेव व्यापारी हैं, साहित्यिक हैं, गृहस्थ हैं और सबमें वे पूर्णताकी ओर बढ़ रहे हैं । उनसे मिलकर एक जीवन-साधकसे मिलनेका सुख मिलता है, रस मिलता है । उस दिन बातों-बातोंमें भारतमाताके महान् पुत्र स्वर्गीय एम० एन० रायकी चर्चा चल पड़ी, तो वे बोले, “राय तो थे ही, पर श्रीमती एलेन राय भी एक विशिष्ट महिला हैं । रायके प्रति उनकी निष्ठा अद्भुत है । रायको मरे सालों हो गये, पर रायका पलंग अब भी ज्योंका-त्यों उनके पलंगके पास बिछा है, उसपर रायका बिस्तर लगा है और जिस ऋतुमें राय जो फूल पसन्द करते थे, अब भी वही लगाया जाता है । संक्षेपमें कोठीको इस तरह रखा जा रहा है, जैसे राय अब भी जीवित हैं, कहीं बाहर गये हैं और आज ही आनेवाले हैं ।”

सुनकर एक पुरानी जिज्ञासाको समाधान मिल गया । जब रायको एलेनके साथ पहले-पहल देखा था, तो अजीब-अजीब-सा लगा था । रूपमें एक कोयला, तो दूसरी कपूर; दोनोंमें कड़ी कहाँ है ? फिर एक दिन राय हम लोगोंसे बातचीत कर रहे थे । अक्टूबरका महीना था, दोपहरका

समय, मौसम सुहावना था, फिर भी रायने एक बार अँगुलीसे अपना मस्तक छुआ। बस श्रीमती एलेन राय उठकर भीतर गयीं और छोटा-सा खूबसूरत पंखा उठा लायीं। राय बातें करते रहे, वे उनके पीछे खड़ी कोई डेढ़ घण्टे तक धीमे-धीमे पंखा झलती रहीं।

श्रीमती एलेन राय विचारक-लेखिका और श्रीमान् राय विचारकता एवं साहित्यके सागर — एलेन, रायमें लीन हो गयीं। राय क्रूर-कठोर क्रान्तिकी लपटोंके खिलाड़ी और एलेन सुकुमार शान्ति एवं सन्तुलनकी गागर ! राय एलेनमें सब कुछ पा गये — दोनों एक दूसरेके पूरक हो गये। यह पूरकता इतनी गहरी कि मृत्युका खाण्डा भी उसे खण्डित न कर पाया और अपनी मृत्युके दिन तक एलेन स्वर्गीय रायके जीवनमें संयुक्त होकर ही जीती रहीं।

और यह रूपसी कौन है ? नारोकी सुकुमारता और सौन्दर्यका बखान करनेको कवियोंने जितनी उपमाएँ दी हैं, सबका जैसे इसमें समन्वय हो गया हो। यह है विश्वविख्यात अभिनेत्री रीता हैवर्थ ! इसने संसारके एक सबसे धनी पुरुष हिज हार्डनेस आगाखाँके बेटे प्रिन्स आगाखाँके साथ विवाह किया। ओह, कितने चावसे कितनी उमंगोंसे दोनों एक हुए कि इन्द्रके स्वर्गकी कल्पना-कथा सुस्त हो गयी। जिस खाड़ीमें दोनोंने अपनी सुहागरात मनायी, कहते हैं उसमें एक लाख बीस हजार रुपयोंका इत्र छिड़का गया; तो और क्या-क्या हुआ होगा, अनुमानको खुल खेलनेकी पूरी आज्ञादी है, पर शायद पाँच-सौ दिन ही कठिन्तासे दोनों साथ रह पाये और अदालतमें मुकदमा लड़कर रीता हैवर्थ प्रिन्ससे अलग हो गयी !

पहाड़की चट्टान मोमकी डली निकली ! क्या नहीं था प्रिन्सके पास ? क्या कमी थी रीतामें ? कमी कहीं नहीं थी, दोनों पूर्णताके भण्डार थे। फिर ? फिर क्या ? दोनोंमें पूर्णता थी, पूरकता नहीं थी। एक बातचीतमें रीताने बताया, “मैं विख्यात सुन्दरी हूँ, विख्यात अभिनेत्री थी। सौन्दर्य और वैभव मेरे अपने दास थे, पर मेरा

जीवन दूसरोंके लिए था, दूसरोंका था, दूसरोंकी इच्छाका दास था । जब मेरा मन उदास होता, तो अभिनेत्री होनेके नाते, डायरेक्टरकी इच्छाके अनुसार मुझे मुसकराना पड़ता, जब मेरा मन एकान्तमें रमा होता, मुझे भीड़के सामने मंचपर आना पड़ता, जब मेरा मन किसी पुस्तकमें डूबा होता, विदेशी पत्रकारोंसे भेंटके लिए मुझे तैयारी करनी पड़ती ।

संक्षेपमें, मेरा जीवन दूसरोंका जीवन था और मैं अपना जीवन चाहती थी । इसीलिए मैंने विवाह किया, पर प्रिन्स आगाखाँ एक बहु-घन्धी आदमी हैं । कभी उन्हें घुड़दौड़की व्यवस्थाके लिए आयरलैण्ड जाना पड़ता, कभी अपने घोड़ोंके लिए अमरीका, कभी अरब । एक दिन उनके यहाँ दूसरोंकी पार्टी होती, तो दूसरे दिन कहीं उनकी पार्टी होती । उनसे मिलनेको संसारके किसी-न-किसी देशका कोई-न-कोई प्रसिद्ध आदमी आया ही रहता । इस सबमें प्रिन्सके साथ मुझे जाना पड़ता, शरीक होना पड़ता और मुझे लगता कि मैं प्रिन्सके महलकी एक जीती-जागती सजावट हूँ, मेरा अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व या जीवन नहीं है । बस मैं कुछ ही दिनोंमें इस पराये जीवनसे थक गयी, ऊब गयी और भाग आयी ।”

हर प्यार-प्रणय अपने जन्मके समय ईश्वरकी तरह अमर, देवताकी तरह सुन्दर और पर्वतके शिखरकी तरह मजबूत दिखायी देता है, पर व्यवहारमें बहुधा वह पेड़के पत्ते-सा नश्वर, राक्षस-सा कुरूप और मिट्टीके ढेले-सा कमजोर निकलता है, तो उसका पहला रूप ठीक है, सच्चा है या दूसरा ?

मेरा उत्तर है कि प्यार-प्रणयकी डोरमें बँधे दो जीवनोमें लाख विशेषताएँ हों, पर यदि पूरकता नहीं है, तो उनके लिए प्रणयका दूसरा और पूरकता है तो पहला रूप सही है ।

रूठो और नखरे करो !

महायुद्धके दिनोंमें जगह-जगह ऐसे रक्षा-गृह बनाये थे कि अचानक आकाशसे बम बरसने लगें, तो राह-चलते नागरिक उनमें सुरक्षा पा लें ! मेरे मित्र श्रीओमप्रकाश मित्तलका घर भी मेरे लिए एक रक्षा-गृह ही रहा कि किसी दिन कहीं शान्ति न मिले तो वहां जा पहुँचूँ । इस रक्षा-गृहकी दो दीवालें थीं, मित्तलजीका सुदृढ़ विश्वास और उनकी पत्नी आन्ताजीकी सुकुमार सरल सहृदयता ।

अब आन्ताजी नहीं हैं, पर मैं घरके भीतर होनेवाले विश्व-व्यापी महायुद्धपर कुछ कहने-सोचनेको बैठा हूँ, तो उनकी याद आ रही है ; क्योंकि उस दिन बातों-ही-बातोंमें उन्होंने इस महायुद्धके सम्बन्धमें ऐसा सूक्ष्म निर्देशन दिया था कि युद्ध-शास्त्रके महापण्डित और द्वितीय महायुद्धके घोषित विजेता मार्शल जुकोव, जनरल मैकार्थर और माण्टगुमरी बैठे टुकुर-टुकुर देखा करें ।

हम लोग बैठे चाय पी रहे थे और मित्तलजी अपनी पहले दिनकी आवारागर्दीकी रिपोर्ट सुना रहे थे कि कल कैसे वे सुबह घरसे निकले और रातमें कोई ग्यारह बजे घर लौटे । किसी सार्वजनिक कार्यकर्त्ताके लिए यह आम बात है, पर यों ही हँसीमें मैंने पूछा, “आन्ताजी, ऐसे आवारा आदमीके साथ तुम्हारी शान्तिसे निभ भला कैसे रही है ?”

अपने स्वभावकी सहज सरलताको गम्भीरताका यों ही-सा स्पर्श दे, वे बोलीं, “भाई साहब, अपना तो यह नियम है कि साथ रहना, तो लड़ना नहीं और लड़ना तो साथ नहीं रहना ।”

सुनते ही अनसोचे मैं कुरसीसे खड़ा हो गया था और झुककर मैंने लाड़से आन्ताजीका सिर थपथपा दिया था, पर आज सोचता हूँ, घरेलू

महायुद्धके सम्बन्धमें कितनी बड़ी बात कह दी थी उस दिन भारतकी उस भोली बालाने !

पति-पत्नी साथ रहते हैं, वे एक नावके सवार हैं, एक वृक्षकी दो शाखाएँ हैं, दोनोंका भाग्य एक डोरमें बँधा है, पर दोनोंमें अकसर लड़ाई होती है। दोनों उस लड़ाईसे दुःखी होते हैं, दोनों उससे बचना चाहते हैं, पर दोनों उसे रोक नहीं पाते — कमाल यह कि दोनोंमें एक भी उसके सही कारणको नहीं जानता; इसीलिए उसे रोक नहीं पाता !

मैं उन घरोंकी बात नहीं कहता, जिनमें पति-पत्नीके बीच कोई स्थायी विषमता है और जहाँ समन्वय सम्भव ही नहीं। मैं कहता हूँ उन लड़ाइयोंकी बात, जो बिना अल्टीमेटमके छिड़ जाती हैं और बिना किसी मध्यस्थके आप-ही-आप निपट जाती हैं, पर कभी इतनी गरम कि लाल अंगारा और कभी ऐसी नरम कि आलपोन-सी चुभचिमटी।

इनका वर्गीकरण इस प्रकार है,

१. एक साथीकी उन आदतों या मजबूरियोंके कारण होनेवाली झपटें, जो दूसरेको पसन्द नहीं।

२. बातों-बातोंमें आ जानेवाली गाँठें।

महात्मा सुकरातकी पत्नी बहुत सख्त थी और जोर-जोरसे बोलना, बकझक करना उसका स्वभाव बन गया था। बात यह है कि सुकरातका महात्मापन उसे पसन्द न था वह उसे ढोंग समझती थी, उनसे आम पतिकी तरह घर-गृहस्थीके कामोंमें ही जुटा रहनेकी आशा करती थी, पर सुकरातके लिए वही बात जीवन-धर्म थी, अनिवार्य थी, सब कुछ थी।

एक दिन सुकरात घरके बाहर बैठे अपने शिष्योंको उपदेश कर रहे थे। उनकी पत्नीने देखा, तो वह घरके भीतर जोर-जोरसे बरड़ाने लगी, पर सुकरातने उधर ध्यान नहीं दिया और उपदेश करते रहे। बाहर शान्त उपदेश, भीतर जली-कटी गालियाँ, दोनोंका प्रवाह बहता रहा। कुछ देर बाद

एक बरतनमें पानी लिये पत्नी भीतरसे आयी और मुकरातके सिरपर पानी उड़ेल क्रोधसे बोली, “लो और करो उपदेश; ढांगी कहींके !”

मुकरातने हँसकर कहा, “यह काम ठीक हुआ; क्योंकि गरजनके बाद बरसना प्राकृतिक नियम है।” और वे फिर उपदेश करने लगे।

क्या अर्थ हुआ इस बातका ? यही कि बकना-झकना पत्नीको भूल नहीं, ज्यादाती नहीं, आदत है, मजबूरी है। वह यह सोचकर नहीं बकती कि उसका पति दुःख पाये। वह तो इसलिए बकती है कि बके बिना उससे रहा नहीं जाता — आदत सोचती कब है ? तो फिर पत्नीकी यह आदत उसको मजबूरी है; जैसे उसके गालपर निकल आया काला मसा ! क्या मसेके कारण कोई पत्नीको छोड़ देगा ? नहीं; मजबूरियोंका उपाय है उन्हें सहना या धीरे-धीरे बदलनेका प्रयत्न करना।

आचार्य क्षितिमोहन सेन उस दिन रातमें देर गये घर लौटे। खाना खाने बैठे, तो देवीजी गुब्बारा; वक्र-दृष्टि भी और शक्र-सृष्टि भी ! आचार्य तो फिर आचार्य ही ठहरे ! भोजनकी थाली उठायी और पत्नीके सिरपर टिका-पकड़ी।

“यह क्या करते हैं ?” गुराँकर पत्नीने पूछा, तो बोले ठण्डे-ठण्डे — “भोजन गरम कर रहा हूँ।”

“मेरे कपालपर थाली रख, भोजन गरम कर रहे हैं आप ?”

कहा आचार्यने, “हाँ, तुम्हारे कपालमें तो इस समय काफ़ी गरमी है ही !”

दोनों हँस पड़े और मिल गया भोजन-रसमें सुजन-रस भी। यह क्या हुआ ? यही कि धागेमें गाँठ लग गयी थी, हाथ थामकर ज़रा संभाला कि खुल गयी। आचार्यजी झुंझलाकर हाथ मारते; तो धागा उलझनोंका गोरखधन्धा हो जाता और तब टुकड़े-टुकड़े हो निकलता धागा, जिससे उसमें न रहती एकरूपता, न एकरसता !

और यह गाँठ भी कैसी है कि लग जाती है यों ही जिन्दगीकी डोरमें ? उस दिन यशस्वी कवि और सहृदय मित्र डॉक्टर रामकुमार वर्मा बैठे थे

अपनी कोठीकी उस छोटी कोठरीमें । मैंने कहा, “अब सुनाओ कोई गीत ।” वे कविता पढ़ते हैं, तो लगता है, लिख रहे हैं — भाव-विभोर, स्वयं साकार शब्द-चित्र-से ।

कहा था गीत सुनानेको, सच कहूँ, गानेको; और वे उठा लाये कागजों-का एक पैकेट-सा । बोले, “लो, एक नया एकांकी सुनो ।”

वे अपना एकांकी सुनाने लगे; मैं एक दम्पतिकी लड़ाईमें उलझता गया । वे अपना एकांकी सुनाते गये, मैं एक दम्पतिके प्यारमें पगता गया । एक था युवक, एक थी युवती — दोनों नये विवाहित । दोनों बात कर रहे थे, एक-दूसरेको पाकर अपनी भाग्यशीलताकी । एक बोला, “मैं तुम्हारे बदले स्वर्गकी अप्सरा भी नहीं चाहता ।” दूसरीने कहा, “मुझे तुम्हारे बदले इन्द्र भी पसन्द नहीं ।”

तरुण मस्तीमें गाने लगा । तरुणी रेशमका फूल निकालती रही । तरुणको यह खटका । खटक शब्दोंमें व्यंग बन उतरी, “क्या तुम्हारे परिवारमें यही शिष्टाचार है ?”

व्यंगने कटूवक्तको जन्म दिया, “क्या तुम मुझे कैदी बनाकर रखना चाहते हो ?”

आ गयी गाँठ और यहाँतक उलझी कि तरुणीने कहा, “मेरे पिताने मेरा भाग्य फोड़ दिया मुझे यहाँ भेजकर और तरुणने कहा, “इस वातावरणमें जीनेसे मर जाना लाख दर्जे अच्छा है ।”

और तब जोशमें एक कोई उठ झपटा, तो फूलदानसे ठोकर खा, पंरमें खून बहा बैठा । तब उठा दूसरा और लगा मरहम-पट्टी करने और यों कहने कि मेरी भूलसे यह चोट लगी । उत्तरमें दूसरेने सारी भूल अपनी बतायी । गाँठ खुल गयी और एकने कहा कि तुम कितने अच्छे हो, तो दूसरेने कहा, अच्छी तो तुम हो !

तो क्या प्यारकी एक आँखमें भेड़िया और दूसरीमें राजहंस निवास करता है ?

इटलीकी एक लेखिकाने अपनी कहानीमें इन दोनों आँखोंकी जो झाँकी दी है, वह नित नूतन मोर्चेपर लड़नेवाले पति-पत्नियोंके लिए सुलहकी सफ़ेद झण्डा है ।

एक बूढ़ा धनी बाप और उसकी एक कन्या । बूढ़ेने देख-भालकर एक भले तरुणसे कन्याका विवाह किया और स्वयं संसारकी यात्राको चला गया । दोनों सुखसे रहने लगे, पर आ गयी गाँठ, तो सुलझा न पाये और अदालतमें जा, अलग हो गये ।

तभी एक दिन बेटीके पास बूढ़ेका पत्र आया कि एक सप्ताहके लिए आ रहा हूँ, फिर दूसरे देशोंकी यात्राके लिए चला जाऊँगा । कौन जाने फिर लौटूँगा या नहीं इसलिए तुम दोनोंको एक बार सुखसे साथ रहते देख लूँ, यह इच्छा है ।

बूढ़ेको क्या पता कि दोनों अब दो हैं, पर बूढ़ेको यह पता चले, तो उसका दिल खील-खील हो जाये ! बेटी परेशान कि क्या करे ? वह उठी और अपने पूर्व पतिके घर जा पहुँची । हाल सुनाया और पूछा, “क्या अपने और मेरे प्रिय वृद्धकी शान्तिके लिए मुझे सात दिन अपने घरमें रहने दे, मेरे साथ प्रेमका अभिनय कर सकोगे ?”

यह अजीब मुसीबत है, पर है इन्सानियतका तक्राजा ! उसने मान लिया, वह धन्यवाद दे, चली गयी । जिस दिन दोपहरको बूढ़ा आनेवाला था, उस दिन सुबह ही अपनी गठरी-मुठरी लिये वह आ पहुँची । युवक बिना बोले, कोठीके बाहर लॉनपर आ बैठा और युवती साथ लाये सामान-से कोठी सजाने लगी । कोई दो घण्टेमें उसने कोठीको वही रूप दे दिया, जो उन दोनोंकी शादीके समय था — वे ही परदे, वे ही मेज़पोश, वे ही चादरें और यह सब सामान बूढ़ेका दिया हुआ । तब वह निकाल लायी वह सूट, जो विवाहमें तरुणने पहना था और स्वयं भी उसने बूढ़ेके दिये कपड़े ही पहने और यों दोनों दूल्हा-दूल्हन बन, स्टेशन जा बूढ़ेको ले आये ।

सात दिनका प्रेम-अभिनय पूरा हुआ, दोनों सफल रहे, बूढ़ा खुशी-खुशी चला गया। तब तरुणीने सब सामान फिर समेटा, गठरी उठायी और कहा, “मैं जानती हूँ इन सात दिनों तुम्हें बहुत सहना पड़ा, पर क्या करूँ और राह ही न थी। मैं तुम्हारी बहुत कृतज्ञ हूँ।”

वह अपने घर चली, तरुण उसे दरवाजे तक पहुँचाने आया — दोनों आगे-पीछे चल रहे थे। ठीक दरवाजेपर पहुँच युवकने पूछा, “तुम जा रही हो?” युवतीने कहा, “हाँ, जाना तो है ही।” युवकने कहा, “क्या जाना जरूरी है?” युवती चुप रही। युवकने खींचकर उसका मुँह अपनी ओर किया, तो आँखें आँसुओंसे भरी थीं। युवक भी रो पड़ा। दोनों लिपट गये। वे अब फिर पति-पत्नी थे, एक थे, एक साथ थे।

पतियोंसे कहता हूँ — कोयलोंमें चिनगारी मत रखो ! पत्नियोंसे कहता हूँ — उन चिनगारियोंको झपको मत ! दोनोंसे कहता हूँ — बको मत, लड़ो मत, बस रूठो और नखरे करो। युद्ध राजनीतिज्ञोंके लिए युद्ध है, पति-पत्नीके लिए वह कला है।

इस कलाके एक विशेषज्ञके रूपमें मेरा सन्देश है, दोनों एक-साथ क्रोध मत करो। एक समयमें एक क्रोध करो। वह पति हो या पत्नी; जिसे भी पहले आ जाये। बस फिर दूसरेका काम है उस क्रोधको सहना, सहलाना। बस यों कुछ मिनटका काम और फिर आराम ही आराम !



जो हाँ, मुझे शिकायत है !

कुछ लोग बड़ी बातको भी थोड़ेमें कह देते हैं और कुछ लोग थोड़ी बात भी विस्तारमें, पर एक तरीका यह भी है कि पूरी बात पहले थोड़ेमें कह दी जाये और बादमें उसका विस्तार होता रहे । मैं भी आज यही तरीका काममें लाना चाहता हूँ । बात यह है कि बातचीतका यही तरीका सर्वोत्तम है, क्योंकि आरम्भमें ही बातकी रूपरेखा मिल जाती है और विस्तारमें उसका आनन्द खिलता जाता है ।

तो सुनिए, मैं पुरुष हूँ, पर इस 'हूँ' के उच्चारणमें जो सानुनासिक गूँज है, उसके पूरा होते-न-होते मैं सोचता हूँ — जो हाँ, मैं पुरुष हूँ, जो कभी अपने गृह-मन्दिरका देवता था, पर अब बलपूर्वक पुजारी बनाया जा रहा है । क्या आप नहीं मानते कि मैंने इस तरह अपना अतीत और वर्तमान, कल और आज उधेड़कर आपके सामने रख दिया है ?

क्या कहा आपने कि तुम्हारे कहनेके ढंगमें शिकायतकी धुन मारती है ! ठीक है, आपकी बात ऐसी हलकी नहीं कि मैं उसे फूँक मारकर उड़ा दूँ और फिर जब मैं आपकी बातको सही मान रहा हूँ, तो मुझे क्या जरूरत कि मैं उसे उड़ाऊँ ? मेरी बातमें शिकायतकी धुन है, तानेकी तेज़ी है, पर क्या यह बेमतलब है ?

मैं पुरुष हूँ और मेरा ऐसा विश्वास है कि पुरुषका अर्थ है शासक । मैं शासन करनेके लिए पैदा हो हुआ हूँ । फिर यह कोई दक्खिनीयानी बात नहीं है । मेरे एक मित्रकी राय है कि पुरुषके शासक होनेकी सबसे प्रामाणिक साक्षी स्वयं स्त्री है । आप पढ़ी-अनपढ़ी; देहाती-शहरी, काली-गोरी, गरीब-अमीर सौ स्त्रियाँ इकट्ठी कोजिए और बात-चीतमें किसी पुरुषका नाम लेकर कहिए कि वह तो अपनी बीबीका गुलाम है ।

बस कहनेके साथ ही आप उन स्त्रियोंके चेहरे गौरसे देखिए, आपको उस पुरुषके प्रति घृणा और हलकापन सब चेहरोंपर एक साथ झलकता दिखायी देगा। बात यह है कि स्त्री ऊपरसे चाहे जो कहे, उसका हृदय मानता है कि पुरुष शासक है और उसे शासक हो रहना चाहिए।

फिर पुरुषका शासक होना बहससे दूर एक ऐतिहासिक सचाई है। यह सचाई एक प्रश्न खड़ा करनेसे खुलेगी। प्रश्न यह है कि आज जो घर-गृहस्थी दुनियामें है, उसे किसने बनाया ?

पुरुष जन्मसे ही निडर और बहादुर। जंगलमें जिधर वह निकल जाये, आतंककी आँधी उठ खड़ी हो, पर्वतकी जिस कन्दराकी ओर वह झाँक ले, शेर और भालू अदबके साथ उसे खाली करते नजर आयें। भला उसे क्या ज़रूरत कि झाड़-पत्तोंकी झोंपड़ी बनाता फिरे ? ऊँचेसे-ऊँचे जिस पेड़पर वह चाहे चढ़ जाये और आरामसे उसके किसी चौड़े-मजबूत टहनेपर सोये; जहाँ न शेरकी पहुँच, न हाथीकी।

प्रकृतिका वरदान हो या अभिशाप, स्त्री जन्मसे ही कमजोर और उसकी सबसे बड़ी कमजोरी उसका मातृत्व। वीहड़ जंगलमें कहाँ वह अपने बच्चेको जन्म दे और कहाँ उसका पालन-पोषण करे ? चिन्तामें सूझ उपजी, सूझमें निर्माण और यों उसने बनायी झोंपड़ी, पर कमजोरीकी उन घड़ियोंमें खूंखार जानवरोंसे वह बालकको वैसे बचाये और वैसे ये दो पेट भरें ?

स्त्रीने यह सब सोचा और मजबूर हो रक्षा और भोजनकी व्यवस्थाका भार आदरसे बुलाकर पुरुषको सौंप दिया। यों पुरुषने घरमें अपना पहला कदम ही शासक, रक्षक और पोषक होकर रखा। अब यदि पुरुष उस झोंपड़ीको अपनी प्रतिभा और श्रमशीलतासे दिल्ली, लन्दन, वाशिंगटन और मास्कोका रूप देनेके बाद समाजमें, घरमें, शासक होकर रहना चाहता है, तो क्या यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है ? आज नारी पुरुषके इस अधिकारका अपहरण करनेके लिए सौ हाथों जुटी हुई है, तो क्या पत्नीके प्रति उसका मन शिकायतोंसे न भरकर सन्तोषसे भरेगा ?

ये शिकायतें अनेक हैं और अनेक होकर भी एक। आप पूछते हैं क्यों? पर क्यों-वों इसमें कुछ नहीं, बात एकदम साफ़ है कि पत्नीको आज पतिका शासक होना, घरमें प्रधान होना स्वीकार नहीं। बस यह अस्वीकार अनेक रूपोंमें प्रकट होता है, इसीलिए यह शिकायत शिकायतोंका भण्डार बन जाती है।

आप कहते हैं, यह समानताका युग है और इसमें यदि पुरुष अपनेको शासक, हाकिम या प्रधान मानता है, सिद्ध करना चाहता है, तो यह शक्तिया अनुचित बात है, इस हद तक कि दण्डनीय; क्योंकि भारतके संविधानमें पुरुष और स्त्रीकी समानता घोषित की गयी है। मेरे भाई, चलो मैं मान भी लूँ आपकी बात कि अब शासक होनेका दावा छोड़ दूँ, पर मुसीबत तो यह है कि पत्नीजी अब स्वयं शासक होनेका, श्रेष्ठ होनेका, दावा करती हैं और वे यहीं नहीं रुकती, बल्कि चाहती हैं कि पति महाराज उनके इस दावेपर अँगूठा लगाकर मंजूरीकी मुहर लगा दें। अब बताइए, यह झगड़ेकी जड़ है या नहीं?

मेरी बातको यों समझिए कि अँगरेजोंने भारतपर लगभग दो सदियों तक राज्य किया और बादमें मौक़ा महल देखकर भारतको आज़ाद कर दिया। नतीजा यह हुआ कि समानताके आधारपर इंग्लैण्ड और भारतमें मित्रता हो गयी, पर यदि भारत स्वतन्त्र होनेपर इंग्लैण्डको गुलाम बना लेता या बनानेकी कोशिश करता, तो क्या दोनोंमें दोस्ती हो सकती थी?

नहीं हो सकती थी, पर यहाँ यही कोशिश हो रही है। आपने सुना है राष्ट्रीय कवि श्री क्राज़ी नज़रुल इस्लामका नाम? जी हाँ, वे ही बाङ्ला-के ज्वालामुखी कवि। उनकी दो पंक्तियाँ सुनिए और मेरी, यानी पुरुषकी, यानी पतिकी हालतका अनुभव कीजिए। वे कहते हैं,

पार्श्व फीरिया सुइया छे आजी अर्धनारीश्वर ।

नारी चापा छिल एतो दिन आजी चापा पोड़िया छे नर ॥

अर्धनारीश्वरने, जो बरसोंसे एक करवट सो रहे थे, आज दूसरी करवट बदल ली । फल यह हुआ कि अभी तक नारी दबी हुई थी, अब नर दब गया ! अब बताइए आप ही कि कल तक जो दबाये हुए था, जब आज दबा हुआ बनाया जा रहा है, तो क्या उसे शिकायत न होगी, सन्तोष होगा ? मैं कहता हूँ, न सन्तोष है न शान्ति; मुझे शिकायत है, सख्त शिकायत है ।

जी, आपकी समझमें नहीं आती मेरी यह बात ? हाँ, नहीं आती, तो फिर कुछ उदाहरण सुन लीजिए । जब वर्णन काम न दे, तो नमूना दिखाना ही सर्वोत्तम उपाय है —

हरेक पत्नी अपने पतिको कुछ ऐसे मामले हैं, जिनमें बिना किसी जाँच-पड़तालके, अपने मुकाबले मूर्ख मानती है । अरे साहब, मानती क्या, खुलेआम घोषित करती है । भले ही पत्नीजी एक और एक दो न जानती हों और पति उद्योग-व्यापारका आचार्य हो, पर पत्नीका अखण्ड विश्वास है कि पति बाज़ारसे कोई भी चीज़ ठोक तरह नहीं खरीद सकता । दूकानदार इतना होशियार है कि वह इन्हें ज़रूर मूँड लेगा और ये महाराज इतने भैं हैं कि हँसते-हँसते मुँडकर चले आयेंगे, यह राय उसी तरह आम है, जैसे पुराने ज़मानेमें मालिकोंकी अपने खरीदे हुए गुलामोंके बारेमें हुआ करती थी ।

चन्दनजीको आप जानते हैं ? जी हाँ, वे ही प्रोफ़ेसर साहब ! उनका विवाह तब ही गया था, जब वे गुल्ली-डण्डा खेला करते थे । उनका पुरुषार्थ है कि वे पढ़-लिखकर यूनिवर्सिटीमें प्रोफ़ेसर हो गये, पर उनकी पत्नीके लिए तो शीघ्रको शिघ्र और परमात्माको प्रमात्मा बनाकर लिखी गयी चिट्ठी ही ऑक्सफ़ोर्डकी डॉक्टरेट बनकर रह गयी ।

उस दिन दोनों बाज़ारसे सामान खरीदने गये । प्रोफ़ेसर चन्दनने एक प्रामाणिक दूकानसे पार्कर फाउण्टेनपेन खरीदा । दूकानदारने नियत मूल्यका कैशमेमो काट दिया, उन्होंने रुपये दे दिये । एक दूसरी दूकानसे

उन्होंने एक पुस्तक खरीदी ! उसका भी कैशमेमो लिया, दाम दे दिये — दाम उसपर भी छपे ही थे !

वहाँसे चले, तो प्रोफ़ेसरनीजीका भाषण आरम्भ हुआ । बोलीं, “क्यों-जी, लड़कोंको तुम क्या पढ़ाते होगे खाक-पत्थर ?”

चन्दनने कहा, “क्यों, क्या बात है ? आपको मेरी पढ़ानेकी योग्यतामें क्यों सन्देह हो गया देवीजी ?”

बोलीं, “सन्देहकी क्या बात है, ठीक पूछ रही हूँ कि लड़कोंको तुम क्या पढ़ाते होगे, वे ही तुम्हें पढ़ा देते होंगे । पेनवालेने बत्तीस रुपये माँगे, वे उसे दे दिये, किताबवालेने सात रुपये माँगे, वे हाथपर रख दिये । भला दुनियामें पहली बार कोई दूकानदार कहीं सच भी बोला है ?”

प्रोफ़ेसर साहब मुसकराये । वे कुछ कहनेको ही थे कि सब्जीवालेकी दूकान आ गयी । श्रीमतीजी उधर मुड़ीं, तो बढ़ते-बढ़ते बोलीं, “अच्छा तुम्हारी होशियारी तो देख ली । अब तुम चुप रहना, कहीं कुँजड़ेके बोलते ही झट बटुआ हिलाने लगे !”

“अरे परवलका क्या भाव है ?” श्रीमतीजीने कुँजड़ेसे पूछा, तो कुँजड़ेने उन्हें टटोला — “आपसे क्या भाव-ताव बहूजी, कितने लोगी ?”

श्रीमतीने उसे हतोत्साह करते हुए कहा, “मैं लूंगी पाँच मन या एक छंटाक; तुझे मतलब ? तू भाव बता अपनी चीजका !”

कुँजड़ा अपने ग्राहकको पहचान गया और तब उसने नया निशाना लिया — “जितने आपकी मरजी हो उतने लो बहूजी ! यहाँ तो आजकल परवल हैं नहीं; आप जैसे राजा लोगोंके लिए ये थोड़े-से फ़ैजाबादसे मँगाये हैं । बेचे तो हैं सवा रुपये सेर, पर आपको एक रुपये सेर दूँगा ।” और उसने बेफ़िक्रीकी मुद्रामें तराजू उठायी ।

श्रीमतीजीने परवलोंपर एक नज़र डाली और उसका पत्ता काटकर अपना जमाया — “फ़ैजाबादसे क्यों, कश्मीरसे बता भाई ! पिछली दूकान-

पर पाँच आने सेर हैं, पर तेरे दाने जरा साफ़ हैं, छह आने सेर देनेको तैयार हो, तो एक सेर तोल दे !”

कुँजड़ा सरककर बारह आनेपर आया, तो श्रीमतीजी सात आनेपर आयीं। “आपको लेने ही नहीं हैं, तो मैं क्या करूँ बहूजी !” यह कहकर कुँजड़ेने तराजू रख दी, तो आठ आने—आखिरी बात कहकर श्रीमतीजी चल पड़ीं। दस कदम जानेपर कुँजड़ेने उन्हें खुशामदी आवाज़में बुलाया और जब वे लौट आयीं तो कहा, “अच्छा लो, आपकी ही बात बड़ी रही, दस आने सेर तोल रहा हूँ।” श्रीमतीजीने एक झोंक और दी और नौ आने सेरपर परवल तुल गये।

कुँजड़ा खुश था कि सात आने सेर बिक रहे परवल उसने नौ आनेमें भिड़ाये और प्रोफ़ेसरनीजी खुश थीं कि बड़ा बन रहा था होशियारका लक्कड़दादा, पर मैंने भी सात आने किस तरक्कीबसे छुड़ाये। गर्वीले भावसे उन्होंने प्रोफ़ेसर साहबकी तरफ़ देखा। वे मुसकराये, तो बोलीं, “हँसते क्या हो, तुम तो मुनते ही रुपया दे देते। देखा, किस तरक्कीबसे मैंने उसे एक रुपयेसे नौ आनेपर धकेला !”

प्रोफ़ेसर सब कुछ समझ रहा है कि उसकी फेफड़ा-फाड़ कमाईके दो आने लूट गये, पर कुछ कह नहीं सकता। क्या अजब मुसीबत है ! हाँ जी, अजब मुसीबत है, पर क्या मुसीबतका यहीं अन्त है ? रामका नाम लो, अब तो मुसीबतका ही दूसरा नाम पति-जीवन है !

आप जानते हैं इस मुसीबतकी जड़ ? अरे साहब, इसकी और उसकी क्या सबकी जड़ एक ही है कि देवताको पुजारी और शासकको शासित समझनेकी भावना। हरेक पत्नी समझती है कि उसका पति जितने समय घरसे बाहर रहता है, मौज कूटता है और श्रीमतीजी जितने समय घरमें रहती हैं मुसीबत भरती हैं। नतीजा यह कि यह ध्यान रखना जरूरी नहीं समझा जाता कि बाहरसे आनेपर उसके साथ कैसा व्यवहार रखा जाये; जैसा कि पहले युगकी पत्नी पतिके बाहरसे आनेपर उसके हाथ-

मुँह धुलाना, पैर धोना, पंखा झलना और जलपान कराना अपना धर्म समझती थी ।

यही कारण है कि बाहरसे आनेपर क्या कहना, क्या नहीं कहना, इसका ध्यान भी नहीं रखा जाता । बाबू कमलकृष्णको तो आप जानते ही हैं और जानना क्या, आमने-सामनेका रहना है — रात-दिनका साथ, बेचारे कचहरीमें बलर्क हैं, पर ऐसी नौकरीसे आदमी भीख माँगकर खा ले । आजकल ऐसा सख्त अफसर पाले पड़ा है कि धमकी और घुड़कीके सिवाय कुछ जानता ही नहीं । दफ्तरका समय पार करना बेचारोंको बवाल हो जाता है । उस दिन शामको घर लौटे तो मैं भी साथ था । अभी वे अपने कोटका पहला बटन भी पूरी तरह नहीं छू पाये थे कि धमाकेकी चालसे श्रीमतीजी आ पहुँचीं । बोलीं, “क्यों जी, शाहजादेको तो भेज दिया बी० ए० पास करने और यह साँपन बहू बैठी ही है मेरी छातीपर कि रात-दिन मुझे फुंकारा करे । बापने पढ़-लिखकर खजाने भर दिये, अब बेटा महल चिनेगा । सौ दफ़े कहा, कहीं दस रुपयेकी नौकरी इसकी भी लगा दो, पर चिकने घड़ेपर एक नहीं टिकती !”

चोट बहुत कड़ी थी, फिर भी बाबू कमलकृष्णने क़रीब-क़रीब प्रार्थनाके ही स्वरमें कहा, “अरे भाई, बाहरसे आकर साँस तो ले लेने दिया करो ।”

सुनते ही देवीजी फुंकार उठीं — “ओहो, मालूम होता है दफ्तरमें बड़ी कुश्ती लड़कर आये हो । कुरसी बैठनेको मिलती है, ऊपर बिजलीका पंखा चलता है, दस आदमी बाबूजी-बाबूजी करते हैं; फिर भी बाबूजीका साँस ही ठीक नहीं रहता !” इसके बाद धम-धम पैर पीटती वे भीतर चली गयीं और ज़ोर-ज़ोरसे बोलकर बहूपर अपना गुबार उतारने लगीं । कोई पूछे उनसे कि ये बातें दो घड़ी बाद भी की जा सकती हैं और शान्तिके साथ भी ।

हाँ जी, ये बातें दो घड़ी बाद भी की जा सकते हैं और शान्तिके साथ भी, पर इसके लिए जिस सन्तुलनकी आवश्यकता है, वह पत्नीके

दिमागमें कहाँसे आये ? कैसे ठहरे ? वहाँ तो हुकूमतका जोम भरा है, जो चाहता है कि घरमें मैं जो चाहूँ वही हो, जो चाहूँ वह कहूँ । मुझपर न रोक, न पाबन्दी; भले ही मेरी चाह और कथनी उचित हो, भले ही अनुचित !

हुकूमतके इस जोमका एक ही रंग-रूप नहीं है । लीजिए बाबू सुलेख-चन्दकी कहानी सुनाऊँ आपको । हाँ-हाँ वे ही विद्यापीठवाले । एक सौ तीस रुपये वेतन मिलता है उन्हें और तीन तारोखको वेतन मिलते ही पूरेके पूरे एक सौ तीस वे श्रीमतीजीको दे देते हैं, पर बीस तारोखसे ही श्रीमतीजी ठुनकने लगती हैं—“नन्दूके पास नेकर नहीं है, मंगलाके लिए ओढ़नी ला देना और घी भी खत्म हो गया है, सो याद रखना ।” अब कोई पूछे इस भली मानुससे कि जब पतिने अपनी पूरी आय आरम्भमें ही तुम्हें दे दी, तो देख-भालकर खर्च करो । उसके सिरमें ये कीलें क्यों ठोकती हो ? जब उसके हाथोंमें कुछ है ही नहीं, तो उसे सुनानेसे फ़ायदा ?

हूँ...क्या कहा आपने कि फिर सुलेखचन्द अपनी आय उन्हें देते ही क्यों है, स्वयं घरका खर्च चलायें ? आपकी बात ठीक है, पर वे आय अपने हाथमें रखें, तो घरमें सुलताना डाकू आ बैठता है ।

“सुलताना डाकू ? जी हाँ सुलताना डाकू, बल्कि महासुलताना; क्योंकि उसे गिरफ़्तार भी नहीं किया जा सकता ? मेरी तरफ़ क्या देख रहे हैं, बातकी गहराईमें उतरिए । रोज़ श्रीमतीजीकी अँगुलियाँ चुपचाप जेबकी पैमायश करने लगती हैं और आज अठन्नी, तो कल रुपया उड़चू होता रहता है । पहले तो पतिजी कुछ कहनेकी हिम्मत ही नहीं करते, पर कभी उस्ताद गामाका गण्डा भुजामें बाँधकर हिम्मतका झण्डा बुलन्द भी करते हैं, तो दामके साथ धामकी शान्तिका ऐसा सूद उन्हें देना पड़ता है कि अपना हाथ खुद अपने कानको लगा लेते हैं ।”

“अरे भाई, निकाल ही लेती हैं, तो क्या कहीं पारसल भेजती हैं—समयपर घरमें ही लगा देती हैं ।”

“ठीक है आपकी बात, पर उस दिन आप तो थे प्रभात होटलमें, जब भाई इकरामकी दुर्गति हुई। उन्हें याद था कि पाँच रुपयेका नोट जेबमें है। दफ़्तरके दोस्तोंको चाय पिलाने ले गये, पर बिल आया, तो जेबमें नोट नदारत। पैसे दोस्तोंने दे दिये, पर बेचारे ऐसे झेंपे कि उठना मुश्किल हो गया। बताइए आप ही, यह भी कोई तरीका है? हाँ, तरीका नहीं है, पर वे तो मानती ही नहीं कि उनपर भी किसी तरीकेकी पाबन्दी लागू हो सकती है — तरीके और पाबन्दियाँ तो पतिके लिए हैं।

“पति किसी दूसरी स्त्रीकी जरा भी प्रशंसा कर दे, तो घरमें भूकम्प आ जाता है और सीताजीके सम्बन्धमें भाषण देनेवाले उस धोबीके भी कान काट लिये जाते हैं, पर स्वयं श्रीमतीजी दुनिया-भरके पतियोंकी अपने पतिके मुक्ताबलेमें तारीफ़ोंके नित-नये पुल बाँधती रहती हैं, वह हाईकोर्टकी नज़ीर है। उनके भाषणोंको कोई सुने, तो समझे कि ब्रह्माजीके यहाँ जब गुण बँटे, तो सिर्फ़ इनके ही पति सोते रह गये थे; बाक़ी सब अगली पंक्तिमें जा खड़े हुए थे।

“पुराने ज़मानेसे कहावत चली आ रही है कि नारी घरका शृंगार है। ज़रूर होगी, पर अनुभव तो यह है कि नारी घरका अंगार है। नयी बहू घरमें आती है, तो पतिके भाग्य खुलते हैं, श्वसुरके जीवनमें स्वर्गका दृश्य दिखायी देने लगता है, देवरोंके मनमें दीवाली जगमगा उठती है और जेठजी अपने भाग्योदयका सन्देश पाते हैं, पर सासका जीवन कड़वा हो जाता है, देवरानियाँ परेशान रहने लगती हैं, जेठानीजीको कलियुगका साक्षात्कार हो जाता है और ननदोंको खुफ़िया पुलिसका महक़मा सौंप दिया जाता है। स्त्रियोंके जलसोंमें पुरुषोंके विरुद्ध खूब नारे लगाये जाते हैं, पर सच यह है कि नारीका सबसे बड़ा शत्रु नारी है और आजका घर नर-नारीके नहीं, नारी-नारीके संघर्षसे सन्त्रस्त है।”

“अरे साहब, आप तो अशिक्षित या अर्धशिक्षित स्त्रियोंके क्रिस्से गा रहे हैं। आपको शायद मालूम नहीं कि शिक्षित स्त्रियाँ जीवनके बहुत ऊँचे वातावरणमें साँस लेती हैं।”

“जी, यह आपकी राय है और आप चाहते हैं कि इस एक ही निशानेमें मेरी शिकायतोंका क़िला ढह जाये, पर साहब, इस तथाकथित ऊँचे वातावरणपर परदा ही पड़ा रहने दीजिए, नहीं तो जाने कितने युवक अपनी पत्नियोंके प्रमाण-पत्रोंको होली करते नज़र आयेंगे । आपकी तरह वे भी इन प्रमाण-पत्रोंको स्वर्गका सुमन समझकर एक दिन उलझ गये थे । रहने दीजिए, यह शिकायतोंका एक नया अम्बार लगानेकी भूमिका न बाँधिए !



और मुझे कोई शिकायत नहीं !

बचपनका मेरा एक साथी है नन्दू । उसकी माँ मुझे अकसर याद आ जाती है और याद क्या आ जाती है, मेरे लिए तो सच कहूँ आपसे, वह रक्षा-कवच है । उसकी याद न होती तो लोग मुझे कभीका पागल बना देते, पर अब उनकी हर हरकत बेकार है, क्योंकि मुझपर उनका कोई असर नहीं होता !

जब पहली बड़ी लड़ाई हुई, तो हम लोग पाँच-छह सालके थे । घर-घर जर्मनीकी चर्चा होती थी, पर नन्दूकी माँसे जर्मन शब्दका उच्चारण ही न होता था और इस बातने उसे पास-पड़ोसके बच्चोंके लिए एक तमाशा बना दिया था । हम सब नन्दूकी माँको घेर लेते और उसे जर्मन कहनेको मजबूर करते — हाँ माँ, कहना जर्मन !

माँ कहती, “भागो, बड़े आये जनवरवाले !”

जर्मनकी जगह जनवर सुनकर हम लोग फट पड़ते और बहुत देर कहकहे लगाते रहते । जरा ठण्डे पड़ते, तो फिर ज़िद करते — “हाँ माँ, कहना जर्मन !” वे बड़ी शानसे कहतीं, “अरे क्या मैं कहना नहीं जानती, जो तुम इस तरह बातें बना रहे हो ?”

अब हममें दो दल हो जाते ! एक कहता, हमारी माँ जर्मन कहना जानती है और दूसरा पूरे दावेके साथ घोषणा करता — झूठ बात है, वे हरगिज़ जर्मन नहीं कह सकतीं । दोनों दलोंमें खूब गरमागरम बहस होती । तब पहला दल प्रार्थना करता, “माँ, बस एक बार जर्मन कह दो, तो इनका मुँह फिट्टा हो जायगा !”

माँ कहनेको तैयार हो जाती, तो हम सब उत्सुकतासे एकदम चुप हो जाते और साँस रोककर माँकी तरफ देखते रहते । माँ भी चुप रहती, कुछ

न बोलती और हमारी तरफ देखती रहती । बेचैन हो उठते हम लोग और उनकी मनुहारें करते, तो वे पूछतीं, “अच्छा क्या कहूँ ?” हम सब एक साथ चिल्ला पड़ते — “जर्मन !” माँ कहती “इसमें क्या बात है, यह तो मैं सौ बार कह दूँ ।” हम कहते, “अच्छा कहो ।” माँ कहती, “जन मन !”

और हम फिर फट पड़ते, कहकहोंसे घर गुंजा देते ।

हमारी हँसीपर माँ कहती, “क्या बेवकूफ हो तुम सब; अरे, ठीक तो कहा है ।”

हम सब गम्भीर हो जाते और बड़े भोलेपनसे पूछते, “अच्छा क्या कहा है माँ ?” और पूरे आत्मविश्वासके साथ माँ कहती, “अरे, और क्या कहती, जनमर कहा है !” ओहो, कुछ न पूछिए, कुछ न पूछिए, कि हम किस बुरी तरह हँसते ! हँसते कि लोट-पोट हो जाते, एक दूसरेके ऊपर गिर पड़ते और आँखोंमें आसूँ आ जाते ।

तब हम माँको उसी तरह पढ़ाने बैठते, जैसे कभी हमें अ, आ, इ, ई, के अक्षर पढ़ाये गये थे । हममें एक कहता, “माँ, कहो जर !” माँ झटपट जर कह देती ! तब वह कहता, “माँ, कहो मन ।” माँ झटपट मन भी कह देती । तब हम कहते, “माँ, अब कहो जरमन ।” पर माँ कहती, जनमन या ऐसा ही और कुछ और बस हम फिर खूब हँसते ।

एक दिन बात शर्त तक पहुँच गयी कि माँ जर्मन कह दे, तो हम उसे एक रुपया देंगे । माँ तैयार हो गयी । हम सबने एक-एक दो-दो आने मिलाकर एक रुपया इकट्ठा किया और माँके हाथपर रख दिया । आजकी उत्सुकताका हाल कुछ न पूछिए और महफ़िल भी आज भरपूर । रुपया माँकी मुट्ठीमें और माँ हमारे बीच — बीच क्या बस आँखोंमें !

कुछ देरकी चुप्पीके बाद आग्रह कुलमुलाया — “हाँ, माँ, कहो अब ।” और साथ ही यह भी — “न कहा तो देखना, हम सब छककर मिठाई खायेंगे ।”

आखिर माँने धीमेसे पूछा, “अच्छा क्या कहूँ ?”

हम सब चिल्लाये — “जर्मन, जर्मन, जर्मन !”

माँने भी आज जोरसे कहा, “जर्मन, जर्मन, जर्मन !”

अरे साहब, हँसते क्या, सबके-सब सन्न रह गये, जैसे पके आम एक साथ पेड़से गिर पड़े हों। आज माँ जोरोमें थी। बोली, और कहूँ जर्मन, जर्मन, जर्मन, जर्मन, पर सचाई यह कि अब माँके मुँहसे जर्मन कहलवानेका मजा खत्म हो गया था और अब वह एक बार कहे या सौ बार, वह बेकार था, बेमतलब था, उसका नशा उतर चुका था और हम जान चुके थे कि माँ हमें इतने दिनोंसे बेवकूफ बना रही थी। इसके बाद भी हम लोग रोज नन्दूकी माँके पास जाते थे, पर उससे जर्मन कहनेका आग्रह न करते थे।

एक दिन मैंने नन्दूकी माँसे पूछा, “माँ अब तुम्हें जर्मन कहना आता था, तो तुम जनमन या जनवर क्यों कहा करती थी ?”

माँने जवाब दिया, “तुम्हें चिढ़ानेके लिए कहती थी और क्यों कहती ?”

मैंने नया सवाल पूछा, “तो माँ, तुम अब क्यों नहीं कहती ?”

बोली, “जब तुम चिढ़ते ही नहीं, तो कहनेसे क्या फायदा ?” बस उसी दिनसे मैंने पल्ले गाँठ बाँध ली थी कि कोई लाख नाम धरे, लाख चिढ़ाये, उधर ध्यान नहीं देना; क्योंकि उधर ध्यान दिया कि मुसीबत आयी और मुसीबत भी हर घड़ीकी, जिधर जाओ वहीं सुनो, गालियाँ बको और गालियाँ खाओ।

यों समझो कि सबके लिए बिना पैसेका तमाशा बनो और कामके रहो, न धामके रहो ? शहर भरमें बेवकूफ !

इसीलिए तो कहता हूँ आपसे मैं कि नन्दूकी माँ मेरे लिए तो रक्षा-कवच है और उसकी बात मैंने पल्ले न बाँधी होती, तो लोग मुझे कभीका पागल बना देते, पर अब उनकी हर हरकत बेकार है, क्योंकि मुझपर

उनका कोई असर ही नहीं होता ! सच समझो, मैं इन लोगोंकी बातपर ध्यान देता, तो ये मुझे भी पण्डित तरबूज़ाराम बना देते । उनका नाम है पण्डित भगवतीप्रसाद; हाँ वे मन्दिरवाले पण्डितजी, पर सब उन्हें तरबूज़ाराम कहते हैं । जाने क्या झक है उन्हें कि तरबूज़का नाम सुनकर भड़क उठते हैं, गाली देने लगते हैं । बस लोगोंने चिढ़ाईमें उनका नाम ही तरबूज़ाराम रख दिया है और मुहल्लेमे रोज़ तमाशा रहता है । और तो और, बच्चेतक उन्हें नहीं छोड़ते और एक तरह, दो तरह, सौ तरह उन्हें देखते ही तरबूज़की चर्चा शुरू कर देते हैं । तरबूज़के मौसममें रोज़ कोई-न-कोई तरबूज़ खाकर छिलके-बीज उनके द्वार फेंक आता है । इन सब बातों-पर पण्डित भगवतीप्रसाद खुलकर गालियाँ देते हैं, बक-झक करते हैं और कोसा-कासी तक करते हैं । अगर मैं लोगोंके कहनेपर एक बार भी ध्यान देता, तो सच मानिए मेरा भी हाल तरबूज़ाराम-जैसा ही हो जाता ।

तो मैंने एक बार भी किसीकी बातपर ध्यान नहीं दिया, फिर ध्यान देनेकी कोई बात भी हो । मैं अगर अपनी बीबीकी बात मानता हूँ, उसके कहनेमें चलता हूँ तो क्या यह कोई बुरी बात है ? जो लोग मुझे बीबीका गुलाम कहकर चिढ़ाना चाहते हैं; वे अपना मुँह तो ज़रा शीशेमे देखें ?

मेरे पड़ोसी खाँ साहब हैं । बड़ी पठानी झोंकते हैं हर वक़्त । औरोंकी बात छोड़िए, बीबीपर भी रोब जमाया करते थे । जीभ तो कभी रुकती ही नहीं, हाथ-पैर भी जब तब चलनेमे नहीं चूकते, पर इस नवाबीका नतीजा क्या हुआ ? एक बार, दो बार, सौ बार, कहाँ तक सहती बेचारी — सोच समझकर एक दिन घरसे बाहर पैर रखा तो फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा और अपने बापके घर पहुँचकर ही दम लिया ।

अब शामके समय मूढ़ेपर बैठे रहते हैं मुँह लटकाये । मैं कहता हूँ, “भाई इसीका नाम नवाबी है तो, मेरी गुलामी भली कि चार बात कान दबाकर सुन लेता हूँ बीबीकी, पर बाहरसे लौटकर घरकी साँकल तो खुली मिल जाती है । फिर सोचनेकी बात यह है कि चार बात कह ही लेती है,

तो क्या गदर हो जाता है। फिर किसी औरको तो नहीं कहती, मुझे ही तो कहती है — आखिर मेरी बीबी है वह, कोई ऐरी-नैरी तो नहीं।

उस दिन मैं दफ्तरसे लौटा, तो गंगाराम भी साथ थे। हम दोनों ही वेतन लेकर आये थे। लौटे तो बीबी दरवाजेपर ही खड़ी मिली। वेतनका दिन होनेके कारण कुछ देर हो गयी थी, तो आते ही उसने पूछा, “इतनी देर कहाँ थे तुम? वेतनका दिन है, बस घन्ना सेठ बने फिर रहे होंगे चाट खाते अपने यारोंके साथ।”

मैंने ठण्डे-ठण्डे उत्तर दिया, “मैं कभी पहले गया हूँ चाट खाने, जो आज जाता। हिसाब-किताब बननेमें ही कुछ देर हो गयी थी।”

वह झट मान गयी मेरी बात और बोली, “खैर, हिसाब-किताबमें देर हो गयी सो हो गयी पर अब तो छातीसे अलग करो, इन रुपयोंको। तुम्हारा क्या, तुम तो महीनेमें एक बार देकर बेफ़िक्र हो जाते हो पर मुझे तो हर दिन हर चीज़में पैसा ही पैसा बखेरना पड़ता है।

मैंने रुपये निकालकर उसे दे दिये, तो उसने दो बार गिने और भीतर रखने चली गयी। तब गंगाराम बोला, “यार, तुम तो सचमुच बीबीके गुलाम हो। वह रोब गाँठती रही और तुम एकदम भींगी बिल्ली बने खड़े रहे।” अपनी आदतके अनुसार मैंने उसे उत्तर नहीं दिया और बात टाल दी, घर वह चला गया, तो मैंने सोचा, भला इसमें भीगी बिल्ली होनेकी क्या बात है। शास्त्रोंमें ही बीबीको गृहलक्ष्मी कहा है, तो जब बीबी घरकी लक्ष्मी है, तो बाहरसे आनेवाली लक्ष्मीको, तो उसके अधीन रहना ही चाहिए। असल बात यह है कि अब शास्त्रोंमें लोगोंकी श्रद्धा नहीं रही, इसलिए घरोंमें सुख-शान्ति छूमन्तर हो गयी है, पर मैं क्या बेवकूफ हूँ जो अपने घरकी शोभाको खराब करूँ।

गंगाराम कहता है कि बीबीको वेतन दे दो, तो महीने भर तक उससे पान-शरबतके लिए भी भीख माँगनी पड़ती है। मेरी रायमें यह एक-दम बेवकूफीकी बात है। पहले तो यह कि बीबीका मतलब ही मालकिन

है। फिर अपने मालिकसे माँगनेमें लाज क्या ? लिहाज क्या ? हम सब भगवान्से हाथ जोड़कर दोनों समय सुख-शान्ति माँगते हैं या नहीं ? फिर बीबीसे माँगनेमें क्या है ? अरे भाई, घरका साक्षात् भगवान् ही तो है बीबी ! तुम महीने-भरकी बातपर दम तोड़ रहे हो, मैं तो तीन जन्म तक उससे माँगता रहूँ, तब भी न थकूँ।

बात यहीं तक हो, तब भी काफ़ी बड़ी है, पर बात यहीं तक नहीं है। इस बारेमें मेरी बीबीकी राय दुनिया-भरमें मर्दोंकी आँख खोल सकती है। एक बार मैं चार-पाँच दिन तक उससे दो रुपये माँगता रहा और कहता रहा कि जेब खाली रहनेसे मर्दका जी खोखला-सा रहता है। वह टालती रही, पर जब एक दिन मैंने बहुत ज़िद् की, तो उसने डपटकर कहा, “देखो जेबमें पैसा पड़ते ही मर्दकी आँख हिरन हो जाती है। तुम जो आज तक आवारा नहीं हुए और बछियाके ताऊ बने हुए हो, उसका कारण यही है कि मैं कभी तुम्हारी जेबमें एक फूटी कौड़ी भी नहीं छोड़ती। फिर आवारगीका ही सवाल नहीं है, पैसा जेबमें होनेसे आदमी चट्टू हो जाता है और अपनी तन्दुरुस्ती खराब कर लेता है। कोई होशियार बीबी भला यह बात कैसे बरदाश्त कर सकती है ? सच मानिए, मैंने तो उस दिनके बाद पैसा माँगनेका नाम ही नहीं लिया और नियम बना लिया कि दफ़्तरसे छुटे और घर आ बँधे।

घर आते ही बीबी चाय पिला देती है और मुझे घरके काम-धन्धोंमें लगा देती है। उसकी यह बात कितनी समझदारीकी है कि खाली रहनेसे आदमीकी कर्म-शक्ति कम हो जाती है। कभी-कभी हम दोनों घरके लिए ज़रूरी चीज़ें खरीदनेको बाज़ार चले जाते हैं। मुझे अकेले वह कभी नहीं भेजती। सौदा वह खुद तै करती है, दाम खुद देती है, बस मैं तो थैलोंमें सामान लेता रहता हूँ।

मेरी बीबी कहती है, “मर्द लोग सामान खरीदनेमें बुद्धू होते हैं और साथमें बीबी न हो तो उन्हें कोई भी ठग ले ! मैं उसकी इस बातमें

पूरा विश्वास करता हूँ और विश्वास क्या यों ही करता हूँ जी, देख-भालकर सोच-समझकर विश्वास करता हूँ । मैं खुद देखता हूँ कि कुँजड़ा जिन पर-वलोंका भाव एक रुपया सेर बताता है वह उन्हें आठ-नौ आने सेरमें खरीदती हैं उसी कुँजड़ेसे ! कुँजड़ा उसे लाख चक्कर दे, वह चक्करपर चढ़ती ही नहीं । अजी, वह चक्करपर क्या चढ़ेगी, उलटे उसे ही चढ़ाकर छोड़ती है । सच कहूँ, गर्वसे मेरी तो छाती फूल उठती है उस समय ।

अब बताइए ऐसी बीबीके गुण गाना, उसकी बात मानना या उसके कहनेमें चलना क्या बीबीका गुलाम होना है ? खैर साहब, आप इस सवाल पर हाँ कहें या ना, आपको अपनी नवाबी मुबारक हो, मुझे तो बस गुलामीमें ही अमन-चैन है ।



कायदे और फ़ासलेसे

“नाकों दम है और जीना मुश्किल हो गया है। न एक मिनट शान्तिसे बैठ सकता हूँ, न कुछ सोच सकता हूँ, न काम कर सकता हूँ !”

“अरे भाई, किस परेशानीमें हो, जो दम दिलसे दौड़कर नाकमें आ गया है ? पुलिस तुम्हारे बारेमें कोई जाँच-पड़ताल कर रही है या किसी पठानसे क़र्ज़ ले लिया था कि वह रोज़ दरवाज़ेपर आ, अपना लट्टू खड़-खड़ाता है ?”

“अजी भाई साहब, क्या बताऊँ आपको। न पुलिसमें कोई जाँच-पड़ताल हो रही है, न पठानसे क़र्ज़ लिया है, पर जाँच-पड़ताल हर समय होती रहती है और दरवाज़ा हर समय खड़खड़ाया जाता है।”

“तुम्हारी बातें भो खूब होती हैं और बातें क्या होती हैं, पहेलियाँ होती हैं कि सुननेमें मजेदार लगें, पर न अता हाथ आये, न पता ! पुलिसमें जाँच-पड़ताल नहीं हो रही है, पर जाँच-पड़ताल हो रही है। पठानसे कोई रिश्ता-वास्ता नहीं है, पर दरवाज़ा खड़खड़ाया जाता है। अरे भाई, तब कौन करता है जाँच-पड़ताल और कौन खड़खड़ाता है दरवाज़ा ?”

“अजी भाई साहब, घरमें ही पुलिस है, घरमें ही पठान और इसीलिए हर समय होती है जाँच-पड़ताल और हर समय खड़कता है दरवाज़ा !”

“घरमें ही पुलिस है और घरमें ही पठान ? तुम भी यार, क्या ज़मीन-आसमानके कुलाबे मिलाया करते हो ! अच्छा, तुम्हारी लन्तरानियाँ तो सुन लीं, अब यह बताओ कि तुम्हारी बातका मतलब क्या है ?”

“मतलब ? मतलब तो साफ़ है कि पुलिस करती रहती है जाँच-पड़ताल और पठान खड़खड़ाते रहते हैं दरवाज़ा, जिससे नाकों दम है कि न एक

मिनिट शान्तिसे बैठ सकता हूँ, न कुछ सोच सकता हूँ, न काम कर सकता हूँ ।”

“फिर वही पहेली, फिर वही लच्छे ! अरे भाई, वह पुलिस और पठान कहाँ है, जिससे तुम्हारे नाकों दम है ?”

“भाई साहब, ये हैं नहीं बाल-बच्चे ! आप क्या समझते हैं कि ये पुलिस-पठानसे कम हैं !! छोड़िए, रोज़की बात, आजकी बात सुनिए,

आज छुट्टीका दिन है । दफ़्तरका काम कई दिनोंसे पिछड़ गया था । उसे कल साथ ले आया और सोचा घर बैठे उसे निपटा दूँगा । सुबह चाय-पानीसे निपटकर बैठकमें कामपर बैठा, पर अभी मैं अच्छी तरह फ़ाइलका फ़ोता खोल भी न पाया था कि मेरा तीसरा बेटा माधव आ खड़ा हुआ ।

आप जानते हैं कि ऐसे मौक़ेपर किसीके आ धमकनेसे कामकी मूढ़ खराब होती है, तो उसका आना मुझे भाया नहीं, फिर भी शान्तिसे ही मैंने कहा, “क्या बात है बेटा ?”

गुनगुनाकर बोला, “मुझे घड़ी ले दीजिए ।”

मैंने कहा, “अभी तो तुम आठवीं क्लासमें ही आये हो । जब तुम मैट्रिक पास कर लोगे, तो तुम्हें घड़ी मिलेगी । तुम्हारे बड़े भैयाको भी मैट्रिक पास करनेपर ही घड़ी मिली थी — न मानो, तो पूछ लेना उससे !”

माधव बोला, “बड़े भैयाको मिली होगी मैट्रिक पास करनेपर घड़ी, पर सज्जनसिंहको तो आठवीं क्लासमें आनेपर ही घड़ी मिल गयी है — वह रोज़ बाँधकर आता है घरसे !”

मैंने बात टालनेको कहा, “वह अपने भाईकी बाँध आता होगा । तुम भी जिस दिन मन चाहे, बड़े भैयाकी बाँध जाना ।”

तमककर माधव बोला, “बाह सज्जनसिंहके पास तो अपनी घड़ी है । उसपर उसका नाम खुदा है, मैंने खुद देखा है ।”

मैंने कहा, “बेटा, सज्जनसिंहका बाप तो अफ़सर है, भला उसकी हमारी क्या बराबरी !”

“सज्जनसिंहका बाप अफसर है तो रहमानका बाप तो अफसर नहीं — उसके पास भी घड़ी है !” और माधव बड़बड़ाता हुआ बाहर चला गया ।

मैं अभी सोच ही रहा था कि घड़ी जरूरतकी चीज थी, फ़ैशनकी चीज बन गयी है और यही हाल और भी बहुत-सी चीज़ोंका है कि इतनेमें आकर भूषण खड़ा हो गया । उसने इस साल बी० एम्-सी० पास किया है सेकेण्ड डिवीजनमें । उसे ज़िद थी कि मैं इंजीनियर बनूंगा, पर इंजीनियरीकी पढ़ाई इतनी महंगी है कि उसकी पहली भरतीका हिसाब देखकर ही मुझे चक्कर आ गया । फिर मर-मारकर जैसे-तैसे लड़केको भरती करा भी दें, तो आगे पाँच वर्षोंका खर्चा कहाँसे आये ? अपनी हालतका कच्चा चिट्ठा उसके सामने रखा, तो गुराँकर बोला, “आप कैसे पिता हैं, जो अपनी सन्तानका भविष्य भी नहीं बनाना चाहते !” मैंने उसे समझाया कि बेटा, चाहनेसे ही सब कुछ नहीं हो जाता, तो बोला, “अजी, आदमी चाहे, तो सब कुछ हो सकता है ।”

मैंने कहा, “हो सकता है, तो कर ले फिर । बस वह कोशिशमें लग गया । तीन जगह उसने कोशिश की, भागा-दौड़ा, पर कहीं भी वह भरती न हो सका; क्योंकि उसका डिवीजन ठीक न था । अब उसे यह दुःख कि मैं भरती नहीं हुआ और मुझे यह दुःख कि भरती नहीं हुआ, यह तो अच्छा ही हुआ, पर भाग-दौड़में मेरे दो सौ रुपये जो लगे, उन्हें मैं कैसे पूरा करूँ ?”

मैंने भूषणको समझाया कि भाई, बड़े सपने छोड़ और बी० टी० कर ले । कहीं मास्टर हो जायेगा, तो मुझे साँस आयेगा, पर वह न माना और बोला, “और कुछ नहीं, तो फिर मुझे एम० एस्-सी० ही करा दीजिए । मैं रात-दिन मेहनत करके अपना डिवीजन बना लूँगा और कहीं प्रोफ़ेसर हो जाऊँगा—मास्टरीमें क्या रखा है, आप तो जानते ही हैं !”

मैं उसे क्या कहता ? जिसे खड़ा नहीं दीखता, उसे बैठा क्या दीखेगा ! “अच्छा भाई, एम० एस्-सी० ही कर ले । मैं मरूँ या जिऊँ, तू

अपना भविष्य उज्ज्वल बना !” भूषणने दो जगह कोशिश की। वह भागा-दौड़ा, मैंने रूपयोंके साथ परिचय-पत्र भी उसे दिये, पर उसे प्रवेश न मिला। तब वह अन्तिम आशाके रूपमें देहरादून गया था और अभी लौटकर आया है। उत्साहसे मैंने पूछा, “कहो भाई, हो गया काम ?”

बोला, “कुछ हुआ भी और कुछ नहीं भी हुआ।”

मैंने कहा, “इस तरह कहो कि कुछ समझमें आये !”

बोला, “आपका पत्र पढ़कर प्रोफ़ेसर आनन्दने बहुत कोशिश की और जोर लगाया, तो हेड ऑफ़ दी डिपार्टमेण्ट — विभागाध्यक्ष — ने कहा है कि हमने विद्यार्थी छांट लिये हैं और उन्हें सूचना दे दी है, पर हर साल छांटे हुए विद्यार्थियोंमें दो-तीन आते नहीं हैं, तो इस बार भी उम्मीद है कि एक-दो जगह खाली रहेगी और हम तुम्हें जगह दे देंगे। उन्होंने मेरे साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया और मेरा पता भी अपनी डायरीमें नोट कर लिया है।”

भूषण चला गया, तो मैंने मोचा — कोई जगह वहाँ खाली न होगी, क्योंकि जो जगह खाली होगी, उसके लिए विभागाध्यक्षसे ऊपरके लोगोंकी डायरीमें पहलेसे ही नाम लिखे हुए होंगे, पर हाँ, यह सही है कि उस जगहकी आशामें उलझे हमारे भूषणजीकी बी० टी० वाली सीट भी भर जायेगी और इस सालका सदुपयोग कुछ वे मित्रोंसे माँगे हुए उपन्यासोंके पढ़नेमें करेंगे और कुछ दैनिक-पत्रोंमें छपे विज्ञापनोंको घूरनेमें !

मैंने फिर कामकी तरफ़ ध्यान दिया, तो छोटा लड़का आ कूदा। हाँ भाई साहब, बेवक़्त बिना बुलाये आना, आ कूदना ही है और क्या; मैंने कहा, तुम भी अपना हुकुम सुनाओ। बस क्या था, तमक उठा, “आप सुननेकी मूढ़में नहीं हैं, तो आपको क्या सुनायें ! छुट्टीके दिन सब लोग अपने-अपने घरमें बच्चोंके साथ बैठते-उठते हैं, उनकी सुख-दुःखकी बात पूछते-गछते हैं, पर आपको उस दिन भी फ़ुरसत नहीं मिलती !” और पैर पटकता हुआ बाहर चला गया। अब कोई पूछे इस बेवक़ूफ़से कि मैं जो

काम करता हूँ, क्या उसका फल खुद ही खा लेता हूँ ? एक महीने काम न करूँ तो इन सबकी बाबूगिरी धूलमें मिल जाये, पर सचाई यह है कि आज-कलके लड़कोंमें तुनकमिजाजीका इस क्रूर जोर है कि नाकपर मक्खी ही नहीं बैठती !

मैं अपनी बात पूरी तरह सोच भी न पाया था कि चौथा बेटा आया और बोला, “मुझे क्रिकेटका मैच खेलने इन्दौर जाना है, इसलिए मुझे एक-दो कपड़ोंकी और पन्द्रह रुपयोंकी जरूरत पड़ेगी।” बोलनेको मेरा जो न चाहा, तो गरदन हिला दी — अच्छी बात है !

अब बताइए आप ही कि ऐसेमे कोई क्या खाक काम कर ले और न कर ले, तो फिर करे क्या ? तो काम करना ही था, सो फ़ाइलकी तरफ़ फिर ध्यान लगाया, पर तभी आ गये बाबू लालचन्द । हमारे दफ़्तरमें ही काम करते हैं और बड़े हमदर्द इनसान हैं । आते ही बोले, “भाई, वो तो बड़ा ही आर्टिस्ट निकला !”

“आर्टिस्ट ? कलाकार ? कौन निकला कलाकार ?” मैंने आश्चर्यसे पूछा, तो बोले, “आपने बाबू गुलजारीलालके बेटेसे अपनी बेटाईके रिश्तेकी बात करनेको कहा था या नहीं ? उन्हींकी बात कह रहा हूँ।” मेरी बात सुनते ही बोला, “हाँ, मैं उन्हें जानता हूँ, कचहरीमें उनकी एक पोर्जीशन है और वे बड़े भले आदमी हैं । ऐसे आदमीसे रिश्तेदारी बड़े सौभाग्यकी बात है । उनसे कह दीजिएगा कि लड़की भी उनकी है और लड़का भी उनका है — भला मैं इसमें क्या कह सकता हूँ !”

“मुझे लगा कि लो बन गया काम और मेरे मनमें श्रद्धाकी एक लहर उठी कि कितने सज्जन पुरुष हैं बाबू गुलजारीलाल कि दान-दहेजका नाम तक नहीं लिया और झट बात मान गये, पर चाय पीते-पीते उन्होंने जो परदे खींचे, तो मुझे उनके दिल-दिमाग़के वे दृश्य दिखायी दिये कि मैं धक्क रह गया । कहने लगे, रामपुरसे एक साहब आये थे । कह रहे थे कि शादीमें आपकी एक पाई खर्च न होगी । बारातका दोनों तरफ़का किराया

भी मेरे ज़िम्मे । मैंने उनसे कहा कि मैं ज्यादा बाराती लाना पसन्द ही नहीं करता, इसलिए आप किरायेका फ़िक्क न करें । मेरा जवाब सुनकर वे बोले, खैर, आप चाहे जैसे करें, मैं तो पाँच हजार रुपये नक़द आपको पेश करूँगा और इतनी ही रक़म शादीके दूसरे कामोंमें खर्च करूँगा; वह भी जिस तरह आप कहें—पसन्द करें ।

इस तरहके कई किस्से सुनाकर बाबू गुलजारीलाल बोले, “मुझे इस तरहकी बातें पसन्द नहीं हैं । मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि शादी-विवाहमें आपसका प्रेम बरसे, बारातियोंकी खातिर-तवाजो अच्छी हो जाये और देन-लेन ऐसा हो कि बिरादरीमें उनकी इज़्ज़त बढ़े और मेरी आबरूको दाग़-बट्टा न लगे ।”

अब बताइए कि उस आदमीने क्या नहीं कहा और क्या नहीं माँगा, पर कहा ही क्या और माँगा हो क्या ? इस हालतमें मैं उसे आर्टिस्ट या कलाकार कहता हूँ, तो क्या कुछ झूठ है ? तो भाई, मेरी तो साफ़ राय है कि उसके साथ हमारी पटरी नहीं बैठ सकती — मुझे तो वह पूरा बक्कल-उचेड़ मालूम हुआ कि आदमीके कपड़े तो क्या छोड़ेगा, वह तो वृक्षका बक्कल भी उचेड़ ले ! है या नहीं ?”

बाबू लालचन्द चले गये, तो मैं सोचने लगा कि घरमें चार बेटे हैं, तीन बेटियाँ और दो हम । पहले तो खाने-पीनेका खर्चा, फिर रहन-सहनका, फिर पढ़ायी-लिखायीका और फिर शादियोंका यह तूफ़ान कि उसमें बड़ा जहाज़ डूब जाये, अपनी तो छोटी-सी नाव ही है । यों समझिए कि एक-न-एक ख़टराग लगा ही रहता है । विद्यार्थी-जीवनमें लेख लिखनेका शौक था, चित्रकलाका शौक था, खेल-कूदमें दिलचस्पी थी, पर अब इन तीनोंकी जगह घरकी टिकटिकने ले ली है । इस हालतमें अगर मैं कहता हूँ कि बाल-बच्चोंके कारण मेरा नाकों दम है, तो क्या मैं ग़लत कहता हूँ भाई साहब ?”

“नहीं, तुम ग़लत नहीं कहते और हाँ, तुम बिलकुल ग़लत कह रहे हो, यह मेरा उत्तर है तुम्हारे प्रश्नपर । मैं जानता हूँ तुम इसे सुनकर

नाक-भौं सिकोड़ोगे और इसे एक अनबूझ पहेली कहोगे, पर मैं कहता हूँ कि मेरा उत्तर सौ-टका ठीक है और सच तो यह है कि इसके सिवा तुम्हारे प्रश्नका और कोई उत्तर हो ही नहीं सकता ।

टुकर-टुकर क्या देख रहे हो मेरी तरफ़, लो अपनी बात मैं इस तरह कहता हूँ कि तुम्हारी समझमें आ जाये — कमसे-कम तुम उसपर विचार करनेकी राह पा जाओ । तुम कहते हो — नाकों दम है बाल-बच्चोंके कारण । मैं कहता हूँ यह एक बात नहीं, दो बातें हैं और एकपर मेरा उत्तर है हाँ, तो दूसरीपर ना । तुम्हारा नाकों दम है, मैं इससे सहमत हूँ और मेरी हमदर्दी तुम्हारे साथ है, पर यह नाकों दम बाल-बच्चोंके कारण है, इसे मैं नहीं मानता — अरे भाई मेरे, तुम्हारा नाकों दम है, तुम्हारी मूर्खताके कारण और मूर्खता शब्द कड़वा लगे, तो मैं कहूँगा तुम्हारी विवेकहीनताके कारण !”

“भला मैंने क्या मूर्खता और विवेकहीनता की ?”

“तुम्हारा यह प्रश्न विवेकपूर्ण है, इस अर्थमें कि तुम सच्चे मनसे अपनी बीमारीको समझना चाहते हो, पर इसे समझनेके लिए यह जरूरी है कि पहले तुम दो कहानियाँ सुनो । हाँ, हाँ, घबराओ मत, उन कहानियोंमें तुम्हारे रोगका निदान छिपा हुआ है ।

एक बाबाजी थे । जो उनके पास आता, कहता, झट उसे ही अपना चेला बना लेते । थोड़े ही दिनोंमें उनके बहुत-से चेले हो गये । एक दिन किसीने उनसे कहा, “बाबाजी, चेले बहुत हो गये हैं ।” गुरकिर बाबा बोले, “हो गये हैं तो फिर तेरे पेटमें क्यों दर्द हो रहा है — अपना माँग-खायेंगे, तेरा-मेरा क्या लेते हैं बेचारे !”

कहानी समाप्त हो गयी, पर उसका मतलब समझना बाकी है और वह मतलब यह है कि बाबाजी चेले बनानेके बाद उनके पालन-पोषणकी जिम्मेदारी अपने सिर नहीं लेते — उनका काम सिर्फ़ चेला बनाना है, फिर वह भूखों मरें या तर माल चाटें, यह उनकी किस्मत है । इस हालतमें चेले सौ हों या हजार, उनपर क्या बोझ — उन्हें क्या परेशानी ?

कहानीका मतलब भी पूरा हो गया, अब सुनो दूसरी कहानी। पाँच-सात यार-दोस्त एक जगह बैठे गप मार रहे थे। वहीं आ बैठा एक और आदमी। वह भी इसी मण्डलीका था। उसने सबसे पूछा, “क्यों भाइयो, अगर किसीके पास कोई अच्छी चीज़ हो, तो यह उचित है कि वह उसका सदुपयोग करे या यह कि उसे बिखेर दे?”

सबने कहा, “उसका सदुपयोग करना ही उचित है।” सुनकर उसने अपनी चादरमें लिपटे दो लड्डू निकाले और उन्हें खा गया। सबने पूछा, “क्यों रे, तूने हमसे पूछा तक नहीं और अकेले ही खा गया लड्डू?” बोला, “भाइयो, तुमने ही तो कहा था कि अच्छी चीज़का सदुपयोग करना चाहिए, उसे बिखेरना नहीं चाहिए, तो मेरे पास जो दो लड्डू थे, उन्हें तोड़कर थोड़ा-थोड़ा सबको देता, तो वे बिखर जाते, किसीकी भी तृप्ति उनसे न होती। अब मैंने उन्हें अकेले खा लिया, तो ठण्डक पड़ गयी है पेटमें!”

“भाई साहब, कहानियाँ तो दोनों सुन लीं, पर यह समझमें नहीं आया कि मेरी मूर्खता और विवेकहीनताका उनसे क्या सम्बन्ध है?”

“अरे भाई, सम्बन्ध तो साफ़ है कि तुमने जो बच्चे पैदा किये, वे बाबाजीकी तरह किये कि चाहे जितने हो जायें, पर यह नहीं सोचा कि तुम बाबाजीकी तरह नहीं बच सकते, तुम्हें तो उनके पालन-पोषण-शिक्षणकी जिम्मेदारियाँ लेनी पड़ेंगी ही। यह तो कि मूर्खता और विवेकहीनता यह कि उस आदमीकी तरह अपनी चीज़का सदुपयोग न कर, उसे बिखेर दिया। दूसरे शब्दोंमें यह नहीं सोचा कि तुम्हारे पास जो साधन हैं, उनसे कितने बच्चोंका जीवन-निर्माण सम्भव है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि तुम्हारे नाकों दम है, यह तो ठीक है, पर वह बाल-बच्चोंके कारण है, इसे मैं नहीं मानता!”

“तो बाल-बच्चोंके बारेमें विवेककी बात क्या है?”

“विवेककी बात वह है, जो प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरूने कही कि ‘बच्चे कायदे और फ़ासलेसे हों!’ असलमें इन पाँच शब्दोंमें

बाल-बच्चोंका पूरा व्याकरण ही आ गया है और तुम उस व्याकरणको समझना चाहो, तो किसी दिन जाकर चरी और ज्वारके खेत देख आना ।

चरी क्या है ? गाय-भैंसके खानेका घास है और ज्वार क्या है ? मनुष्योंके खानेका अन्न है, पर मूलमे दोनों एक हैं—ज्वार बोनसे ही चरी और ज्वारके खेत लहलहाते हैं — कायदे और फ़ासलेसे बोनपर जो दाने अन्न उपजाते हैं, वे ही बेकायदे और घने बोनसे घास ! वही बात सन्तानकी है कि कायदेसे — यह देखकर कि हम कितने बालकोंका पालन-पोषण उचित रूपमें कर सकते हैं, और फ़ासलेसे — यह सोचकर कि जब एक बालक पूरी तरह पल जाय, तो दूसरा जन्म ले, बच्चे हों तो उनसे घरमें रोशनी फैलती है, माता-पिताको सुख मिलता है और देश अपने श्रेष्ठ नागरिकोंसे समृद्ध होता है — तब उनसे किसीके भी नाकों दम नहीं होता । अब बताओ कि क्या मैं यह ग़लत कहता हूँ कि तुम्हारे नाकों दम है यह ठीक है, पर वह बाल-बच्चोंके कारण नहीं, तुम्हारी ही मूर्खता और अविवेकके कारण है !”



यह बात है मर्यादाकी

वीरेन्द्र बिहारी गोयल, मेरे एक मित्र हैं। विद्वान् कहनेसे हमारे देशमें भारी-भरकमपनका बोझल-सा जो व्यक्तित्व हमारी कल्पनामें उतरता रहा है, उससे वे कोसों दूर हैं, एक सरस सजीव बन्धु ! बोझल तो न वे देहमें, न स्वभावमें, न विचारोंमें।

उनका एक पुराना नौकर है हरिया। उस दिन चाय पीते हरियाका एक संस्मरण अनायास हाथ आ गया। गोयल साहबके जीवनमें बहुत उतार-चढ़ाव आये हैं। वे उतारके दिन थे। गोयल साहबका स्वभाव है सुखको बाँटकर भोगना और दुःखको अकेले।

उन्होंने चाहा कि हरिया कहीं हट जाये और आरामसे रहे, पर हरियाके सामने हटनेका प्रस्ताव आया, तो वह तैयार न हुआ। इधरसे जब आग्रह हुआ, तो उसने सारी बहस एक प्रश्नमें समेट दी, “आखिर आप मुझे कितनी तनख्वाह दे सकते हैं ?”

गोयल साहबने कहा, “छह रुपये महीना !”

उतना ही संक्षिप्त उत्तर, “बस ठीक है।”

और हरिया उनके साथ ही रहता रहा जैसा रह रहा था।

यह सुना तो सोचना पड़ा — जिस नौकरको उस दिन बीस-पचीस रुपये मासिककी नौकरी मिल सकती थी, वह छह रुपयेपर रहनेको क्यों तैयार हो गया ? और साथ ही यह भी कि आखिर वह ज़मीन कहाँ है, जिसमें सद्भावनाका यह वृक्ष फूट-पनपा ?

गहरे-गहरे सोचा, तो समझमें आया — हरिया अपनी सद्भावनाके लिए प्रशंसा और बधाईका पात्र हैं, पर सद्भावनाकी जड़ गोयल साहबके प्रति उसके उस विश्वासमें है, जो गोयल साहबकी सद्वृत्तियोंके कारण ही अखण्ड है !

गोयल साहबकी उन सद्वृत्तियोंका अभिनन्दन !

बात सामनेसे हटते-न-हटते एक नयी बातमें बदल गयी । यह नयी बात है यह कि घरका नौकर भी मनुष्यकी एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है और तभी याद आ गयी मुझे अपने जीवनकी एक दोपहरी ।

सुबह सात बजे चाय पीकर घरसे चला, तो उम्मीद थी कि नौ बजे तक लौट आऊंगा । एक सार्वजनिक संस्थामें चल रहे मतभेदोंको निपटानेके लिए एक मीटिंग थी । मीटिंग हमारे यहाँ एक मुसीबत है, यह लगभग चौथाई शताब्दी तक देख चुका था, पर आज जाना कि यह मुसीबत कभी-कभी महामुसीबत भी हो जाती है । सात बजे बैठे थे, एक बज गया और अब भी कुछ उलझनें बाकी थीं । उन उलझनोंको बीचमें छोड़कर भोजन करने घर चला जाऊँ, तो जो गुत्थियाँ सुलझी हैं उनके भी फिरसे उलझ जानेका भय था, इसलिए जहाँ था, वहीं भोजन करनेका निश्चय कर लिया और भीतर रसोईमें चला गया ।

रसोइयाजीसे बातें हुई, तो जाना कि वे वरसोंसे इस परिवारमें हैं । आजकल नौकर टिकते नहीं । जब जिसके यहाँ जाओ, नया नौकर दिखायी देता है, फिर ये रसोइयाजी जो यहाँ जमे ही हैं, तो जरूर इसका कुछ आधार है ?

सोचा और रसोइयाजीको टटोला । खोज-पड़तालका अन्त उन्होंने यह किया — “हमारे सेठोंमें दो बातें खास हैं पण्डितजी ! पहली यह कि हमें प्रातःकाल खूब तृप्त करके तब वे रसोईमें जाने देते हैं और बादमें भी हमें वह सब कुछ मिलता है जो हमारे सेठ खाते हैं । दूसरी बात यह है कि हमारे सेठोंको कभी क्रोध भी आता है, तो बुरे शब्द नहीं कहते !”

सुना और भोजन करते-करते सोचा, ये दो बातें कहनेमें ही दो बातें हैं, असलमें एक ही बात है और वह बात यह कि सेठजीके व्यवहारसे यह सिद्ध है कि वे अपने रसोइयाको भी एक मनुष्य मानते हैं और उसकी इच्छाओंके साथ उसके मानका भी ध्यान रखते हैं ।

समाजकी सम्पूर्ण स्वस्थताका दिन वह होगा, जब किसीको नौकर और किसीको मालिक होनेका अवसर न रहेगा, पर आज व्यक्तिगत चरित्रकी दृष्टिसे मैं इस वृत्तिका सम्मान करता हूँ ।

मेरे इस सम्मानका अर्थ है कि स्टार-पेपर-मिलकी मिल्कियत और बाजोरिया इण्टर कालेज एवं बाजोरिया ज़िला अस्पतालकी स्थापनासे सेठ नन्दकिशोर बाजोरिया और सेठ बदरीप्रसाद बाजोरियाको हम जितना जान पाते हैं, उनके रसोइयाजीकी इस बातचीतसे हम उन्हें उससे अधिक पहचान पाते हैं । तो वही बात कि घरका नौकर भी गृहस्थकी — गृहस्वामीके स्वभाव-व्यक्तित्वकी एक कसौटी है ।

और यह नौकरीकी ही बात नहीं, फैलकर यह बात है मर्यादाकी कि क्या घरके बड़े छोटोंके मनका ध्यान रखते हैं, और क्या छोटे बड़ोंके मानका ध्यान रखते हैं ? यदि इस प्रश्नका उत्तर हाँ है, तो निश्चय ही उस घरका, परिवारका वातावरण स्वस्थ है, स्वच्छ है और उसमें वह अमृत है, जिसे पीकर श्रेष्ठ नागरिक बनपते हैं । श्रेष्ठ नागरिक, जो किसी भी राष्ट्रकी शक्ति हैं, शोभा हैं ।



यहाँ अलग, वहाँ साथ

“चचा, नमस्ते !”, “नमस्ते चचा !”, “चचा, सो रहे हो या अफ़ीम का अण्टा चढ़ा रखा है, जो बोलते ही नहीं ! आखिर बात क्या है, कुछ कहो तो ?”

“आओ भाई, आओ, कब आये तुम ?”

“मुझे आये तो काफ़ी देर हो गयी। पहले तो दरवाजेपर खड़ा मैं देखता रहा कि आप कहीं सो तो नहीं रहे, पर आपके हाव-भावसे यह साफ़ था कि आप सो नहीं रहे हैं, तब मैं कमरेमें आया, पर बोल न चाल, हूँ न हाँ ! मैंने सीधी नमस्ते की, पर आप चुप; मैंने उलटी नमस्ते की, पर आप गुम ! तब हारकर पूछा कि चचा, सो रहे हो या अफ़ीमका अण्टा चढ़ा रखा है, तो आप बोले।”

“अरे भाई, न हम सो रहे हैं, न हमने अफ़ीमका अण्टा ही चढ़ा रखा है, पर हाँ, यह तो बताओ कि यह उलटी नमस्ते क्या होता है, जिसका तुम अभी-अभी जिक्र कर रहे थे ?”

“उलटी नमस्ते ? ओह, उलटी नमस्तेमें आपकी चिलचस्पी पैदा हुई है। तो लीजिए, सुनिए कि सम्बोधन पहले और नमस्ते बादमें, यह है सीधी नमस्ते और नमस्ते पहले, तो सम्बोधन बादमें यह है उलटी नमस्ते; जैसे चचा, नमस्ते और नमस्ते चचा !”

“अरे भाई वाह, यह तो तुमने खूब बात बतायी। जनम बीत गया नमस्ते करते-कराते, पर उसके इन रूपोंका भेद तो अभी हाथ आया !”

“खैर चचा, आपने तो नमस्तेका भेद जान लिया, पर मुझे अभी यह भेद जानना बाक़ी है कि आप इस एकान्त कमरेमें पड़े किस भेदको सुलझा रहे थे ?”

“अरे भेद क्या बेटा, कुछ भेद नहीं, पर हाँ, समस्या तो है ही, जिसमें कभी-कभी दिमाग़ ऐसा उलझ जाता है कि किसीका न आना दिखायी दे,

न बोलना सुनायी दे । यहाँ तक कि आनेवालेको उलटी-सीधी नमस्ते तो करनी पड़े ही, अफ्रीमका अष्टा चढ़ानेकी बात भी कहनी पड़े ।”

“खैर, भेद नहीं तो समस्या ही सही, पर बताइए तो कि वह समस्या क्या है, जिसमें आप इस तरह उलझे हुए थे । वह देशकी कोई समस्या है या विश्वकी; हाँ, अन्तरिक्षकी तो नहीं ? अब तो समस्याका यह नया कोना भी हमारे लिए खुल गया है !”

“अरे भाई, देश-दुनियाकी समस्याओं तक हमारे दिमागकी पहुँच कहाँ ? हम तो अपने ही घरकी समस्यामें उलझे हुए थे और उलझे भी क्या थे दुःखी हो रहे थे !”

“घरकी समस्यामें उलझे हुए थे ? कैसी घरकी समस्या ? क्या बात है आखिर ?”

“बात क्या होती, वही घरकी समस्या; यानी तुम्हारी चाचीकी समस्या ? और चाचीकी भी क्या समस्या, वही मनहूसियतकी समस्या !”

“कैसी मनहूसियत चचा ? हमारी चाची तो इतनी हँसमुख हैं कि बोलते-बैठते उनके मुँहसे फूल झड़ते हैं । आप अपनी बात ज़रा खोलकर कहें ।”

“अरे भाई, खोलकर कहना क्या और घोलकर कहना क्या; बात तो सिर्फ़ यह है कि जाने किस मिट्टीसे भगवान् ने उन्हें गढ़ा है कि न किसी बातका शौक, न किसीमें दिलचस्पी । ऐसे आदमीके मुँहसे फूल झड़ें या बताशे, घरमें मनहूसियत तो छायेगी ही । लो, तुम खोलकर सुनना चाहते हो, तो तुम्हें खोलकर ही सुनाऊँ ।

अभी पिछले दिनों हमारे देशकी राजधानीमें एक बड़ी भारी नुमाइश हुई । उसमें देश-भरके उद्योग-धन्धोंकी उन्नतिका प्रदर्शन था । बड़ी महत्त्वपूर्ण चीज़ थी वह प्रदर्शनी कि सारे देशमें घूमकर और हज़ारों रुपयेके साथ ही कई महीनोंका समय खर्च करके भी देशकी उन्नतिका जो दर्शन हम नहीं कर सकते, वह थोड़े-से रुपये और समयमें ही हम कर सकते थे ।

सौभाग्यसे हम तो राजधानीके पास ही रहते हैं, पर उससे/तो देशके दूर-दूरके हिस्सोंसे लोग आ रहे थे ।

एक दिन मैंने कहा, चलो प्रदर्शनी देख आयेँ; दो-तीन दिनकी सैर भी हो जायेगी और देश-दर्शनका सुख भी मिलेगा ।

बड़े विस्मयसे बोलीं, क्या है उस प्रदर्शनीमें ?

मैंने उत्साहसे बताया कि उसमें ऐसी-ऐसी मशीनें देखनेको मिलेंगी, जिन्हें हजारों रुपये खर्च करके भी हम नहीं देख सकते !

आश्चर्यपूर्ण मुद्रामें बोलीं, लोहेकी मशीनें ? जैसा हमारे मुहल्लेमें मंगतू-लालाका आटा पीसनेका अंजन है ? उन भूतोंको देखनेसे भला क्या फायदा; उनसे अच्छा तो मेरा यह कद्दूकस है कि इसमें लौकी कसकर रायता बना लेते हैं !

सुनकर जी जल गया, पर यह जलना कोई एक दिनका तो नहीं है । एक दिन भाई वंशीधर आये और बोले, चलो सारंगपुरका मेला देख आयेँ !

मैंने कहा, हाँ, चलेंगे, बड़ा आनन्द रहेगा । कोई पन्द्रह-सोलह साल पहले मैं गया था वहाँ । सुना है अब तो बहुत उन्नति हो गयी है और बहुत शानदार मेला भरने लगा है, पर हाँ, ज़रा उनसे पूछ लो, तुम तो जानते ही हो उनका दिमाग कुछ ऐसा ही है ।

वे बोले, वाह, मेलेमें जानेको किसका जी नहीं चाहता, वे बड़ी खुशीसे चलेंगी और तभी वह आ गयीं भीतरसे, तो वंशीने अपना प्रस्ताव उनके सामने रखा । सुनकर बहुत सादगीसे बोलीं, अरे भैया, मेलोंमें आदमियोंकी भोड़के सिवाय और क्या होता है ? हमारी खिड़कीसे अनाजकी मण्डी दीखती है । उसमें हर समय भीड़ लगी रहती है, जब मेला देखनेको जी चाहे, उसमें बैठ जाओ और चाहे जबतक देखते रहो — हींग लगे ना फिटकरी, रंग चोखा-चोखा ! और वे फिर इस तरह भीतर चली गयीं, जैसे विचार-के लायक कोई प्रश्न ही उनके सामने न हो ।

लो, छोड़ो भी दिल्ली और सारंगपुरके क्रिस्से, अपने ही शहरमें सेवा-सदनकी रजत-जयन्तीका महोत्सव था । कई बड़े नेता आये थे, विद्वान् आये

थे, वक्ता आये थे और मनोरंजक कार्यक्रम भी था। मैंने बहुत आकर्षक ढंगसे उत्सवका वर्णन किया और तब उनसे चलनेको कहा, पर उनके उत्साह-का हिमालय न डोला, नहीं ही डोला और अन्तमें बोलों, सब नेताओंके फोटू तो हमारी बैठकमें पहले ही लगे हुए हैं, जब चाहो दर्शन कर लो और विद्वानोंके उपदेश सुननेके लिए मारे-मारे फिरनेकी जरूरत नहीं, क्योंकि रोज़ सुबह स्नान करके रामायणजीका पाठ हम करते ही हैं। अच्छा तुम्हीं बताओ ऐसी कोई बात है जो हमारी रामायणजीमें नहीं है? फिर ये पण्डित लोग भी तो रामायणजीकी ही बातें कहते हैं। और वह इस तरह चुप हो गयीं, जैसे इस मसलेपर कहने-सुननेको अब कुछ बाकी ही न हो। अब तुम्हीं बताओ कि यह मनहूसियतकी समस्या है या नहीं? और इसमें आदमी ऐसे उलझ जाता है या नहीं कि तुम्हे कमरेमें आकर कहना पड़े कि चचा, सो रहे हो या अफ्रीमका अण्टा चढ़ा रखा है!”

“हाँ चचा, आपकी बात ठीक है कि जब पत्नीमें सैर-सपाटेका शौक न हो तो अपने पैर भी भारी हो जाते हैं और कहीं जानेको जो नहीं चाहता, पर यह मनहूसियतका नहीं, मनोवृत्तिका या स्वभावका प्रश्न है और इसका इलाज यह कि दोनों अपनेमें थोड़ा-थोड़ा बदल-बदलाव कर लें।”

“कैसा बदल-बदलाव? तुम भी ज़रा अपनी बात खोलकर कहो।”

“चचा, बदल-बदलाव ऐसा कि आपकी बात-चीतसे साफ़ है कि चाचीको सैर-सपाटेका शौक नहीं है, तो आप कोई दूसरा शौक बना लें, जिसमें वह भी दिलचस्पी ले सकें।”

“ठीक है भाई, ठीक है तुम्हारी बात, पर क्या तुम समझते हो कि जब ईश्वरके दरबारमें अक्ल बैठी थी, तो तुम सबसे अगली क़तारमें खड़े थे और मैं दरवाज़ेके बाहर ही रह गया था? पुरानी कहावत है कि आदमी अपनी अक्ल और दूसरेकी दौलतको ज़्यादा ही समझता है। मैंने इस बारेमें एक नहीं, अनेक बदलाव किये पर सब व्यर्थ।”

“ज़रा मुझे भी सुनाइए उन बदल-बदलावोंकी बात!”

“बदल-बदलावोंकी बात सुनना चाहते हो ? लो सुनो बदल-बदलावोंकी बात ! हमारे शहरमें पिछले दिनों एक सरकस आया — सारे देशमें मशहूर है उसका नाम और हमारे शहरमें वह पहली बार ही आया था । खूब पोस्टर लगे और धूमधामसे हाथी-घोड़ोंके जुलूस निकले । रामलीलाके मैदानमें उसका तम्बू तना, पर रातमें हमारे घर तक शेरोंकी दहाड़ सुनायी पड़ती थी ।

बहुत उत्साहसे मैंने कहा, “हमारे शहरमें पहली बार यह सरकस आया है, बोलो, किस दिन चलागो उसे देखने ?”

एकदम भावहीन स्वरमें बोलीं, “क्या होता है उसमें ?”

“अरे उसमें ? उसमें शेर हैं, हाथी हैं, रोछ हैं, घोड़े हैं; और ये ऐसे-ऐसे करतब दिखाते हैं कि देखकर अचरज होता है !”

परेशान-सी होकर बोली, “और ये उन आदमियोंको मार नहीं डालते, जो इनका तमाशा देखने जाते हैं ?”

“नहीं जी !” मैंने कहा “इन्हें महीनों तक सिखाया-पढ़ाया जाता है और जब वे पूरी तरह पालतू हो जाते हैं, हिल-मिल जाते हैं, तब इन्हें मैदानमें लाया जाता है ।”

अपने दोनों पंजे पूरी तेजीसे हिलाकर बोलीं, “ना, ना, ना मैं जाऊँ, ना तुम्हें जाने दूँ । भला शेर-हाथीका क्या भरोसा ? ज़रा-सी बातमें आदमी ही आपसे बाहर हो जाता है और मरने-मारने लगता है । फिर जानवर तो जानवर ही हैं । ज़रा-सी देरमें कूद पड़े भीड़पर, तो मेरा दम तो बिना पंजा मारे ही निकल जाये । भला शेर-हाथीका क्या तमाशा; आदमियोंको भी भूतागति लग रही है ! बस सरकस जानेका प्रोग्राम खत्म हो गया !”

“चचा, आप उन्हें सिनेमा क्यों नहीं ले जाते ?”

“सिनेमा ? अरे भाई, किसे ले जाऊँ सिनेमा ? सिनेमाके नामसे उनका सीना धड़कता है । एक बार एक फ़िल्म आयी जिसका सम्बन्ध हनुमान्जी-के जीवनसे था । तुम्हारी चाची हनुमान्जीकी बड़ी भगत हैं । तुम तो जानते ही हो कि हर मंगलको वह उपवास करती हैं जाने कितने रद्दे दिये,

कितनी करवटें लीं, तब गयीं सिनेमा । मैंने भगवान्‌को धन्यवाद दिया कि चलो श्रीगणेश तो हुआ, पर यह श्रीगणेश ही इतिश्री भी हो गया । बात यह हुई कि ज्योंही एक लम्बा-चौड़ा अभिनेता हनुमान्‌का रूप धरे परदेपर आया, तुम्हारी चाचीने हाथ जोड़ लिये, आँखें बन्द कर लीं और कीर्तन आरम्भ कर दिया—

को नहीं जानत है जगमें कपि,
संकट मोचन नाम तुम्हारो !

बीच-बीचमें उन्होंने कभी आँख खोली भी, तो मुझसे न बोलकर, बजरंगबलीकी जय बोलनेमें समय लगाया, पर सिनेमा-दर्शनका असल आनन्द तब आया, जब एक बार उन्होंने कुछ पैसे पूरे जोरसे हनुमान्‌जी-पर फेंके । उनका हाथ आगेवाले दर्शकके सिरसे टकरा गया और पैसोंसे एक तीसरे सज्जनकी कनपटी सिक गयी । खूब अनाप-शनाप कहा गया और हो-हल्ला मचा, पर कहानीका क्लाइमेक्स तब हुआ, जब सिनेमा हॉलसे बाहर निकलते ही उन्होंने मुझसे जवाब-तलब किया कि तुम कैसे आदमी हो कि न पैसे चढ़ाये, न हाथ जोड़े, न कीर्तन किया — फिर भला तुम यहाँ आये ही क्यों थे ?”

“चचा, आपकी समस्या असलमें मनहूसियतकी समस्या नहीं रुचि-भिन्नताकी समस्या है । इस समस्याके अनेक रूप हैं, जैसे एक बातूनी है, दूसरा खामोश, एक खुद-पसन्द, दूसरा निभाऊ, एकको खानेका कुछ शौक, दूसरेको दूसरा, यही बात पहननेमें रहन-सहनमें । चचा, इस समस्याका समाधान है तटस्थता कि दोनोंमें जो अधिक समझदार हो, वह अपनेको दूसरेके रूपमें बदल ले । यह सम्भव न हो, तो फिर यह कि इस कानसे सुन, उससे निकाल, इस आँखसे देख, उससे भुला; यानी तू उसे सह, वह तुझे सह और दोनों रुचि-भेदके उस कोनेमें एक दूसरेको सहकर, जीवनके शेष क्षेत्त्रमें भरपूर होकर जियें ।”

आप पिता हैं, मैं पुत्र, पर....

“पूज्य बाबूजी,

मैं कई दिनसे देख रहा था कि घरमें भीतर ही भीतर ज्वालामुखीका एक घनघोर धुआँ उमड़ रहा है। धुआँ जब उमड़ता है, तो बाहर निकलनेकी राह चाहता है और वह राह उसे न मिले, तो वह फूट भी पड़ता है।

मैं जानता था कि घरका यह घनघोर धुआँ मेरे ही कारण उमड़ा है और मैं इस बातसे भी खुश ही हूँ कि उसे बाहर निकलनेका रास्ता भी मैंने ही दिया है। जब मैंने आज सुबह कॉलेज जाते समय माँसे साफ़-साफ़ कह दिया कि मुझे कल्पनाके साथ विवाह नहीं करना है, नहीं करना है, नहीं करना है और आप यह बात बाबूजीसे कह दें, तो मैं तभी समझ गया था कि आज कॉलेजसे लौटनेपर मेरा अच्छा स्वागत होगा।

कॉलेजसे लौटते ही दरवाजेपर रामूने मुझसे कहा कि बाबूजी तमाम दिन बहुत गरम रहे और बार-बार भड़के भी। तुम ज़रा शान्त रहना और उनके सामने न जाना।

भीतर आनेपर श्यामाने कहा, “आज बाबूजी तुमसे बहुत नाराज़ हैं। कह रहे थे कि दुनिया जानती है, मैं पिछले उन्नीस वर्षोंसे रामकुमारका बाप हूँ, अब मैं उसका बेटा होकर तो नहीं रह सकता। यह घर मेरा है, मैंने इसे पैंतीस वर्षों तक रात-दिन खून-पसीना एक करके बनाया है। इसमें मेरी ही राय चलेगी, किसी दूसरेकी नहीं, भले ही वह मेरा पुत्र हो।”

बड़े भैया मिले तो बोले, “रामकुमार, आज तुम्हारे व्यवहारसे बाबूजी बहुत मर्माहत हुए हैं। उनकी समझमें यह आ ही नहीं सकता कि अपने विवाहके बारेमें कोई लड़का दिलचस्पी ले या मुँह खोले। फिर लड़का

बहस करे, बापकी चुनी लड़कीको ठुकरा दे, अपनी चुनी हुई लड़कीके गुण खुलेआम बखाने, यह सब तो उनके लिए नरककी यातना ही है।”

बड़े भैया मुझसे कह रहे थे कि तुम्हें याद नहीं रामकुमार कि मेरा विवाह हुआ तो मैं तुम्हारी भाभीके बारेमें एक अक्षर भी न जानता था और विवाहके भी पूरे एक वर्ष बाद मैंने उसे पहली बार देखा था।

बड़े भैयाका व्याख्यान सुन, मैं ऊपर आया तो मुझे माँ ले बैठी। उसने भी अपनी काफ़ी लम्बी भागवत मुझे सुनायी और अन्तमें कहा, “तेरे बाबूजी तेरी इस बातसे बहुत गरमा गये हैं और कह रहे थे कि रामकुमार मनमानी करेगा तो मैं अपनी जायदादसे उसे वंचित कर दूँगा और तब कम्बख्त षल्लेकी करता फिरेगा।”

माँने अन्तमें कहा, “वे आज लखनऊ गये हैं, कल सुबह आयेंगे। तू तबतक सोच ले; क्योंकि आते ही वे तुझसे हाँ-ना पूछेंगे।”

यह कहनेके बाद माँके आँसू आ गये और मुझे दुलराते हुए उन्होंने कहा, “देख रामकुमार, हर समय ज़िद अच्छी नहीं होती। तेरे बाबूजी कुछ तेरे दुश्मन नहीं हैं कि तुझे किसी भेड़-बकरीसे बाँध देंगे। पागल नहीं बना करते। कल सुबह उनसे कह देना कि मुझे आपकी बात मंजूर है। तू जानता है तेरे बाबूजी बड़े ज़िद्दी हैं। अपनी बातसे उन्हें कभी कोई आज तक नहीं हटा पाया। बेटा, मैं माँ हूँ, मैं यह नहीं देख सकती कि मेरे दो लड़के तो राजगद्दीपर बैठें और एक साठ रुपल्लीपर दफ़्तरोंकी फ़ाइलें घिसता फिरे।”

बाबूजी, मैंने माँकी बात सुन ली और मान लिया कि यह उनका उपदेश नहीं है, उनके आँसुओंकी चिकके पीछेसे दे दिया गया आपका नोटिस है। नोटिस जवाब चाहता है और मुझे भी इसका जवाब देना है। कॉलेजके ही कपड़ोंमें बिना मुँह धोये या चाय पिये अपना कमरा बन्द करके मैं यह जवाब आपको लिख रहा हूँ।

अपनी बात कहनेसे पहले मैं आपकी बातका जवाब देना चाहता हूँ और मेरा जवाब यह है कि मुझे आपकी चुनी हुई लड़कीसे विवाह करना

न आज स्वीकार है, न कल स्वीकार होगा। आप मेरी पत्नीके चुनावके अधिकारको अपनी जायदादके लोभसे छीनना चाहते हैं और उसीकी धौंसपर उसे अपने हाथमें लेना भी। मैं इसे आपका न विवेक मानता हूँ, न हितकामना, यह आपका घोर अहंकार है और इसपर पूरे जोरसे मैं चोट करना चाहता हूँ, यह घोषणा करके कि आपकी कुछ लाखकी जायदादके साथ ही नहीं सारे संसारकी सम्पदाके साथ भी मैं अपनी पत्नीका सौदा नहीं करूँगा और मेरा विवाह अगली वसन्तपंचमीको मेरी चुनी हुई लड़कीके साथ होगा। मेरा सुझाव है कि आप अपनी जायदादसे मुझे वंचित करने और किसी गुलामको उसे अता फ़रमानेकी कानूनी घोषणाके लिए भी उसी वसन्तपंचमीको अभीसे चुन लें, तो यह एक सुन्दर संयोग होगा।

आपके मनका अहंकार आपके भीतर गरजकर कह रहा है कि राम-कुमारको इस पत्नीके साथ साठ रुपयोंकी बल्लेकी और दरिद्रता भी मिलेगी। मैं उस पुरानी कहानीको नहीं दोहराना चाहता, जिसमें एक राजाने अपनी सातवीं कन्याको यह कहनेपर कि वह अपने ही भाग्यका भोजन करती है, एक ग्वालेके साथ ग्याह दिया था और बादमें वह उस ग्वालेको एक राज्यका अधीश्वर बनानेमें कामयाब हो गयी थी। मैं भविष्यकी किसी सुनहरी कल्पनामें न पड़कर आजको ही कल और परसों माने लेता हूँ और आपसे कहना चाहता हूँ कि आपकी चुनी हुई गुड़ियाके साथ राजमहलमें रहनेकी अपेक्षा मैं अपनी चुनी हुई पत्नीके साथ झोपड़ीमें रहना ज्यादा पसन्द करता हूँ।

आप बेचैनीमें उलझे हुए हैं अपने इस सवालके साथ कि बेटा अपने बापको पत्नीके चुनावका अधिकार देनेमें क्यों झिझकता है। मैं जानता हूँ कि आपकी नज़रोंमें आपका प्रश्न संसारके सब तर्कोंसे ऊपर और अकाट्य है, पर मैं उसे अपने एक प्रश्नकी पैनी कसौटीपर कसता हूँ, तो वह भुरभुरी मिट्टीके ढेले-सा छूमन्तर हुआ जाता है। मेरा प्रश्न यह

है कि जब एक लड़कीको बेटा अपना जीवन-साथी बनानेके योग्य समझकर चुन चुका है और उस लड़कीमें बापको भी कोई दोष दिखायी नहीं देता, तो बाप उस लड़कीको अपनी बहू माननेसे इस तरह क्यों हिरहिराता है, जैसे उसे जंगलमें अचानक रीछ मिल गया हो ।

बाबूजी, भ्रम और बहमके गुब्बारे न उड़ाइए । साफ़ बात यह है कि यह गुण-दोषोंका प्रश्न नहीं, अधिकारका प्रश्न है । आप कहते हैं कि पुत्रको यह अधिकार नहीं और मैं कहता हूँ कि यह अधिकार केवल पुत्रको है ।

अपने अधिकारके लिए बड़ेसे-बड़ा बलिदान भी कुछ नहीं, यह जीवनशास्त्रका सिद्धान्त है और मैं आपके सामने सीधा खड़ा होकर इस सिद्धान्तका अभिनन्दन करना चाहता हूँ ।

सच बात यह है कि हर बूढ़ा अपनेको अबलका कैलाश और युवकको अबलका दिवालिया मानकर जीता है । उस दिन प्रदर्शनीमें जो विशाल कवि-सम्मेलन हुआ उसमें वह बूढ़ा झूम-झूमकर अपने पुत्र कवि शेखरकी कविताएँ सुन रहा था और जब शेखरकी कवितापर रीझ सभापतिजीने अपना सुनहरा हार गलेसे उतारकर शेखरके गलेमें डाल दिया, तो तालियोंकी गड़गड़ाहटके बीच बूढ़ेके आँसू छलछला आये । उसकी खुशीसे नाचती आँखें कुछ इस तरह मुसकरा रही थीं कि जैसे शेखरकी यह सफलता उसीका एक निर्माण हो ।

आप उतावले होंगे यह कह पड़नेको कि हाँ पुत्र पिताका निर्माण तो है ही और शेखरके बूढ़े बापको यह गर्व करनेका पूरा अधिकार है कि शेखर उसका निर्माण है । है न आपके मनमें यह बात, पर आपको यह जानकर पता नहीं कैसा लगेगा कि शेखरने जब पहली बार कविता लिखी, तो इसी बूढ़ेने उसे शहतूतकी कमचीसे झाड़ा था उछल-उछलकर, गरज-गरजकर और कहा था, अबे कविता लिखता है तो क्या तू जवानीमें नोटंकी खेलता फिरेगा ?

मेरा एक कलाकार मित्र है। सुबह घरसे निकलता है, तो फिर घर लौटना जैसे भूल ही जाता है। रातमें यमुनाके किनारे चाँद देखने बैठ गया, तो बस बैठा रहा रातके दो बजे तक। उसके पिता सरकारी अफसर थे और उसे भी अफसर ही बनाना चाहते थे। मित्रके लिए उन्होंने उस युगमें एक एफ० ए० पास लड़की चुनी, पर उसने साफ़ इनकार कर दिया और कहा कि मैं किसी गाँवकी मामूली पढ़ी-लिखी लड़की ही से विवाह करूँगा। अफसर बापने उसे थप्पड़ोंसे खूब रेंगा तो वह भाग गया। बादमें इस शर्तपर ही एक महीने बाद वह आया कि उसका विवाह गाँवकी लड़कीसे होगा। आज वह बहुत सुखी है और अपनी घुमक्कड़ीसे वह रातमें दो बजे भी लौटे, तो गरम खाना पा जाता है। कहता है बीबी एफ० ए० पास होती, तो क्या जाने चायकी जगह चप्पलसे मेरा स्वागत करती।

रमेश आरम्भसे ही गम्भीर स्वभावका युवक था। पढ़नेमें रात-दिन जुटा रहता और सदा फ़र्स्ट आता। खुद भी बहुत बढ़िया लिखता, उसके लेख विद्यार्थी अवस्थामें ही श्रेष्ठ पत्रोंमें सम्मान पाते। वह प्रोफ़ेसर होना चाहता था, पर उसके पिताने उसे हाय-हाय करके वकील बना दिया।

बन गया बेचारा वकील, पर अपने दफ़्तरमें बैठा मस्खियाँ मारा करता है और अपने पिताकी जय मनाता है। उस दिन मैं उसके दफ़्तरमें बैठा था कि एक मुवक्किल आया। उसकी बात सुनकर रमेशने कहा, “एक छोटी-सी खिड़कीको लेकर दो भाइयोंमें मुकदमेबाज़ी शुरू हो, यह बड़ी वाहियात बात है। फिर तुम्हारे छोटे भाईकी खिड़कीसे तुम्हारा कोई नुक़सान नहीं और उसका लाभ है, तो तुम्हें बुरा क्यों लगे। जाओ, अपने परिवारकी सुख-शान्ति नष्ट न करो और खिड़की बन जाने दो।”

वह चला गया, तो मैंने पूछा कि रमेश तू वकील है या फ़ैसला अफ़सर ? बोला, “हूँ तो वकील ही पर वकील अपने मुवक्किलका सहायक और सलाहकार ही तो है। मैं अपने लाभके लिए उसे उलझा देता, तो क्या यह मेरा मेरे पेशेके प्रति विश्वासघात न होता ?”

मैंने कहा, “ठीक है, यह पेशे के प्रति विश्वासघात होता, पर क्या यह अब पेट के प्रति विश्वासघात नहीं हुआ ?”

बोला, “राजकुमार, पेट से आत्मा बड़ी चीज है।” और उसके चेहरे पर एक ऐसा विषाद छा गया कि अपने जवान बेटे की मौत पर किसी के चेहरे पर न छाया होगा। बाबूजी, क्या यह विषाद उसके अभागे पिता का ही प्रसाद नहीं है, जिसने अपनी एक झककी बलिवेदी पर अपने बेटे के जीवन-व्यापी सुख को न्योछावर कर दिया ? वही अहंकार की बातें हैं ये सब ! बाप सोचता है मैं बुद्धि का स्तूप हूँ। जो सोचता हूँ वही ठीक है, जो कहता हूँ वही ठीक है, जो करता हूँ वही ठीक है। किसी को अधिकार नहीं कि वह तर्क करे, बहस करे और नया सुझाव दे। आपको इस डिक्टे-टरी ने जाने कितने युवकों को बरबाद कर दिया है बाबूजी ! और अब यही दिमागी डिक्टेटरी आप पर सवार है, पर आप निश्चिन्त रहिए, मैं शेखर और अपने कलाकार मित्र के रास्ते पर ही चलूँगा, अभागे रमेश के रास्ते पर नहीं।

यह डिक्टेटरी विवाह-शादी या इसी तरह के दूसरे बड़े प्रश्नों के बारे में ही होती, तो शायद उतना बड़ा खतरा न बनता, पर यह तो छोटी-छोटी बात को भी अपने घेरे में लेने के लिए बेचैन है। यह घेरा इतना छोटा हो गया है कि उसमें कोई आत्माभिमानी युवक घुटकर मरे बिना रह ही नहीं सकता।

इस घेरे की भयंकरता मेरे सामने उस दिन प्रदर्शनी में आयी जब मैं अपने कॉलेज के मित्र कुसुम के परिवार के साथ प्रदर्शनी में गया। कुसुम के पिता, माता, भाई, बहन, सभी साथ थे। एक दूकान पर सब लोग कुछ खाने-पीने बैठे। उसके पिताने रसगुल्ले की एक-एक प्लेट सबको खिलायी, पर कुसुम ने वह न ली। एक-एक गरम इमरती की प्लेट आयी, तो वह भी कुसुम ने न ली। वह किसी मित्र के यहाँ अभी-अभी मिठाई खाकर आया था और इस समय मिठाई में उसकी रुचि न थी। उसने नम्रता से कहा,

“मैं तो चाट खाऊँगा।” कुछ देरमें चाटका नम्बर आया तो कुसुमकी बहनने चाट लेनेसे मना कर दिया। बात यह थी कि वहाँ कई चीजोंमें प्याज पड़ी थी और वह प्याज खाती न थी। बस फिर क्या था, कुसुमके पिताजी भड़क उठे और उनके हाथमें चाटकी जो तश्तरी थी वह उन्होंने कुसुमपर फेंक मारी। गरज कर बोले, “मैं तुम्हारे बापका नौकर हूँ, जो हर समय तुम्हारी खुशामदें किया करूँ? एकके गलेमें रसगुल्ला डंक मारता है, तो दूसरेको चाट काटती है। मैं किस-किसके नखरे धामूँ। ऐसी नालायक औलाद भगवान् किसीको न दे। हम अपने बाबूजीके साथ जाया करते थे, तो क्या मजाल कि इधर-उधर देख भी लें।”

वे चिल्लाकर भीड़ जोड़ रहे थे और मैं देख रहा था कि कुसुमका सूट उस फेंकी तश्तरीकी चाटसे रंगीन हो गया है और वह बेचारा अपने रुमालसे उसे ठीक करनेका बेकार प्रयत्न कर रहा है।

कुसुमकी उस हालतको देखकर मैंने सोचा था कि अब हर पिता अपने परिवारका संरक्षक और पूज्य अभिभावक बनने मात्रसे सन्तुष्ट नहीं है, वह अपने परिवारका जेलर होना चाहता है। उसकी खुशी इसमें नहीं है कि परिवारके लोग अपने-अपने ढंगपर फलें-फूलें, बल्कि इसमें है कि वे उसके उठाये उठें, उसके बैठाये बैठें। यदि वह धार्मिक है तो वे भी धार्मिक हों और वह नास्तिक है, तो वे भी नास्तिक। खाली अदब-कायदोंमें ही नहीं, रुचि, वेश-विन्यास और जीवनकी छोटीसे-छोटी बातमें भी वे उसके पीछे चलें। न आगे हों, न बराबरीमें, एकदम पीछे। फ़ौजी अनुशासनकी तरह एक सीधी क्रतारमें। सावधान रहें कि जिधर उसका पैर मुड़े, उनका भी पैर मुड़े और जिधर जितनी गरदन उसकी झुके वे भी उधर उतनी ही गरदन झुकायें।

बाबूजी, बहुत दिन हुए खलील जिब्रानकी एक कहानी पढ़ी थी कि मनोविज्ञानका एक खोजी पागलखाना देखने गया। वहाँ उसे एक पागल मिला, जो बहुत विद्वान् था और हर मसलेपर अधिकारपूर्वक प्रामाणिक

ढंगसे बातें करता था। घण्टों बातें करके भी खोजी महाशय यहाँ न समझ पाये कि इस विद्वान् आदमीको पागलखानेमें क्यों रखा जा रहा है ! उनसे न रहा गया तो उन्होंने पूछा, “माफ़ कीजिए, मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि आप यहाँ क्यों रखे जा रहे हैं और इससे भी बढ़कर यह कि आप अपना यहाँ रखा जाना बरदाश्त कैसे करते हैं ?”

हँसकर वे बोले, “मेरी माँ आस्तिक है। वह बराबर प्रयत्न करती रही कि मैं पादरी बनूँ। मेरे पिता सरकारी ठेकेदार हैं और उनकी इतनी शाखाएँ हैं कि उन्हें सँभालना उनके लिए कठिन हो रहा है, इसलिए वे सदा ही प्रयत्न करते रहे कि मैं एक ठेकेदार बन जाऊँ, मेरे नाना वकील हैं और उनकी सारी खींचातानी मुझे एक बड़ा वकील बनानेमें लगी रही। मेरे बाबा वैज्ञानिक हैं और वे मुझे सदा वैज्ञानिकताकी ओर ही धकेलते रहे। यही हाल मेरे प्रोफ़ेसरोंका रहा है कि गणितका प्रोफ़ेसर मुझे गणितज्ञ देखना चाहता है तो साहित्यका प्रोफ़ेसर मुझे साहित्यका आचार्य। मैं अकेला किधर चलूँ, यही सोचकर मैं यहाँ चला आया हूँ।”

मेरे बाबूजी, क्या इन उदाहरणोंमें मैंने आपका ही चित्र आपके सामने नहीं रख दिया ? और क्या यह चित्र ऐसा है कि इसके सामने सिर झुकानेसे इनकार करूँ, तो अभद्र समझा जाऊँ ?”

तब वे न डरपोक होंगे, न भेंपू !

“कैसे-कैसे लोग होते हैं, हाथ रे राम !”

“जी हाँ, लोग ऐसे होते हैं, वैसे होते हैं, ऐसे-वैसे होते हैं, पर यह तो बताइए कि आप यहाँ पार्कके लॉनपर बैठे, यह बिना श्रोताओंका जलसा क्यों जमा रहे हैं ?”

“अरे, तुम यहाँ कहाँसे आ टपके ?”

“जी, पेड़से टपकते हैं फल और आसमानसे टपकती है बूँद, पर न मैं फल हूँ, न बूँद; पौने छह फिटका इनसान हूँ, इसलिए मेरे टपकनेका तो सवाल ही नहीं उठता, घरसे जा रहा था स्टेशन, सोचा - पार्कसे निकलता चलूँ; थोड़ा रास्ता बचेगा और मुफ्तमें हो जायेगी पार्ककी सैर, पर यहाँ देखा कि बेंचपर आप विराजमान हैं, तो इधरसे निकल आया। पास आया तो सुना कि आप श्रोताओंकी चिन्ता किये बिना लोगोंकी विविधतापर कोई भाषण दे रहे हैं !”

“मैं भाषण दूँ या न दूँ, पर यार तुम्हारी बातचीतका लहजा देखकर तो ऐसा लगता है कि तुम किसी फ़िल्मके बहुत अच्छे संवाद लिख सकते हो। मेरी सलाह मानो तो छोड़ो इस मास्टरीके चरखेको और जा पहुँचो बम्बई—एक बार किस्मत आजमाने !”

“जी, बम्बईमें किस्मत आजमाना इतना आसान नहीं है, जितना पार्ककी खाली बेंचपर बैठकर भाषण फटकारना !”

“आसान ? आप भी क्या दकियानूसी बातें करते हैं। अरे भाई, आसान नहीं, एकदम आसान ! ऐसा न होता, तो हर साल कई सौ लड़के-लड़कियाँ एक ही शहरसे भागकर बम्बई क्यों जाते ?”

“अच्छा ! आपने अखबारमें पढ़ी होगी यह खबर ? लेकिन पढ़ी है उस नक़ली मौलवीकी तरह !”

“कौन नकली मौलवी ? किसकी तरह ?”

“नकली मौलवीकी तरह, जो सूरत-शक्लमें तो मौलवी थे, पर नमाज कभी न पढ़ते थे । एक सच्चे मौलवीने उनसे इसकी शिकायत की, तो बोले, “मियाँ, धर्मपुस्तकमें लिखा है कि मत पढ़ नमाज !”

सच्चे मौलवीने ताज़ुबसे कहा, “धर्मपुस्तकमें लिखा है मत पढ़ नमाज ? कौन-सी धर्मपुस्तकमें लिखा है ?”

नकली मौलवीने एक धर्मात्माकी लिखी पुस्तक दिखायी जिसके एक पन्नेकी आखिरी लाइन थी—मत पढ़ नमाज । तब कहा, कहिए जनाब, लिखा है या नहीं ?

सच्चे मौलवीने शान्तिसे कहा, “हाँ-हाँ लिखा है, पर यह भी तो पढ़ ।” और पन्ना उलटकर उसके सामने कर दिया । उस लाइनके आगे लिखा था — अगर नापाक हो । धर्मात्मा उपदेशकका मतलब यह था कि अगर आदमी नापाक — अपवित्र हो, तो पहले हाथ-मुँह-पैर धोये, तब नमाज पढ़े, पर नकली मौलवीने आधी-अधूरी बात पढ़कर ही नमाज बन्द कर दी थी !”

“तो मैंने भी वह खबर अखबारमें इसी तरह अधूरी पढ़ी है, यह आपकी राय है ?”

“जी हाँ, आपने आधी खबर पढ़ी है कि एक बड़े शहरके तीन सौ लड़के-लड़कियाँ फ़िल्ममें अपनी क्रिस्मत आजमानेके लिए हर साल बम्बई जाते हैं, पर पूरी खबर यह है कि जब उनके घरवाले खोजते-खोजते उन्हें पाते हैं, तो वे अकसर फटे हाल होटलोंमें बरतन माँजते हुए मिलते हैं । इसलिए आपके मशवरेको मानकर मैं अपना मास्टरी चरखा छोड़ दूँ और क्रिस्मत आजमाने बम्बई चला जाऊँ, तो मुझे वापस लानेके लिए आपको भी वहाँके होटलोंकी खाक छाननी पड़ेगी ।”

“अच्छा खैर, छोड़िए भाषण देने और संवाद लिखनेकी बात, अब यह बताइए कि आप यहाँ एकान्तमें बैठे नृतत्त्व शास्त्रकी किस खोजमें तल्लीन थे ?”

“नृतत्त्व शास्त्रकी खोजमें ? कैसा नृतत्त्व शास्त्र ? आज तो तुम्हारी बातचीतसे ऐसा मालूम होता है कि तुम पूरी जौलानियोंपर हो, जो एक-के बाद एक शानदार पतंग उड़ा रहे हो ।”

“पतंग उड़ाते होंगे आप, मैं तो गम्भीर बात कह रहा हूँ । नृतत्त्व शास्त्र मनुष्यकी नस्लके विकासका विज्ञान है । उसने इस प्रश्नपर भी गम्भीर विचार किया है कि संसारमें कुल कितनी तरहके चेहरे मिलते हैं और वह इस परिणामपर पहुँचा है कि हमारे यहाँ कई तरहके चेहरे होते हैं — लम्बे, गोल, ऐसे, वैसे और ऐसे-वैसे ! तो मैं समझा कि आप इसी मसलेपर विचार कर रहे हैं, पर छोड़िए मेरी समझको मुझ नासमझके लिए और यह बताइए कि आप यहाँ बैठे सोच क्या रहे थे ?”

“मैं सोच रहा था कि इस दुनियामें कैसे-कैसे लोग होते हैं ।”

“ठीक है, यह तो मैं पहले ही सुना चुका हूँ, पर यह भाषण तो आपके विचार-वृक्षका तना है, जिसके इधर-उधर कुछ दीखे, तो कुछ समझमें आये, इसलिए अब इसकी जड़-फुंगल भी दिखलाइए कि पूरा वृक्ष दिखायी दे ।”

“भाई मेरे, क्या जड़ और क्या फुंगल, बस पूरा पेड़ यही है कि यह दुनिया भी अद्भुतताका एक अजायबघर है और कभी-कभी ऐसे दृश्य दिखायी दे जाते हैं कि अचानक मुँहसे निकल पड़ता है — हे भगवान् ऐसे लोग भी होते हैं । लो, तुम्हें पूरा किस्सा सुनाऊँ, तो बात तुम्हारी समझमें आये ।

“चौधरी रणधीरसिंह पुराने खानदानी आदमी हैं और पुराने रीति-रिवाजोंके अनुसार उनके घरका काम चलता है । गाँवमें अच्छी-खासी खेती है और चैन-सुखकी जिन्दगी है । उनकी पत्नीके बारेमें गाँवमें मशहूर है कि चौधरनका पल्ला, तो कोई बाहरका आदमी क्या देखता, किसीने कानों बोल भी नहीं सुना ।

चौधरी साहबका बड़ा बेटा भी उनके ही ढंगका है और बड़ी बहू भी सासको आदर्श मानती है, पर छोटा बेटा चार हारफ पढ़ा हुआ है

और उसकी बहूने भी मदरसा देख रखा है। उस दिन चौधरी साहब गाँव-में नहीं थे, तो छोटा बेटा अपनी बहूको लेकर शहर चला आया। दोनोंने होटलमें बैठकर चाय पी और बाज़ारमें घूम-घाम की। भला इस वातावरण-माहोलमें घूँघट कहाँ टिकता, पर वे दोनों रिक्शामें बैठकर सिनेमाकी तरफ़ चले, तो बहूके सिरसे आँचल भी खिसक गया।

रिक्शा सर-सर करता जा रहा था और जो लोग हमेशा बैलगाड़ीमें बैठते हैं, उनको रिक्शामें हवाई जहाज़का मज़ा आता है, तो पति-पत्नी उसका आनन्द लेते और आपसमें चुहल करते उड़े जा रहे थे। अचानक जो दोनों-की निगाहें सामने पड़ीं, तो दोनों सन्न ! बचनेकी कोशिश की, रिक्शेवाले-को इशारा किया, पर इससे फ़ायदा ? चौधरी रणधीरसिंह जो सामने खड़े हैं। रिक्शा रुक गया, तो बेटा कुलमुलाया, पर तबतक बहू तो लम्बा घूँघट निकालकर बाज़ारके बीचोबीच रिक्शासे लुढ़क-पुढ़क ठेठ सड़कपर सिमटकर बैठ गयी।”

“क्यों ? सड़कपर क्यों बैठ गयी वह ?”

“यार, तुम भी गमसूदड़ ही हो। जो बहू श्वसुरजीको घरमें आया देखकर आधे फ़ुट ऊँचे पीढ़ेपर बैठो नहीं रह सकती, वह उन्हें देखकर रिक्शेकी सवा तीन फ़ुट ऊँची गद्दीपर कैसे बैठी रह जाती ? तो उसने जो कुछ किया, वह उसके लिए साधारण था, पर जो लोग बाज़ारमें इधरसे उधर और उधरसे इधर आ जा रहे थे, उनके लिए तो यह दृश्य साधारण न था ! फिर साधारण और असाधारणका उन लोगोंके लिए प्रश्न ही कहाँ उठता है, जिनके पैर साँपकी मुण्डी या ताशका पत्ता देखते ही ब्रेक लगे पहियेकी तरह रुक जाते हैं। बस फिर क्या था भीड़ जुड़ गयी और लोग उच्चककर देखने लगे कि बात क्या है ?

बात क्या है ? यह किसीको मालूम न था और बात क्या है, यह कोई पूछ भी न रहा था, पर थोड़ी देरमें सब जान गये कि बात क्या है और जो सब जान गये, वह यह था कि यह लड़का उस बूढ़ेकी बेटीको

भगाकर ले जा रहा था कि बूढ़ेके घट्टे चढ़ गया। कुछ लोग मारपीटपर उतारू हो चले और कुछ पुलिस-पुलिस चिल्लाने लगे। कुछ देर बाद जब मामला खुला तो सब इस तरह हँस पड़े, जैसे उन्होंने कोई बड़े इनामकी पहेली बूझ ली हो।

मैंने यह सारा काण्ड अपनी आँखों देखा और तबसे ही मैं यह सोच रहा हूँ कि जो बहू अजनबी लोगोंके सामने खुले मुँह ही नहीं, खुले सिर भी घूम सकती है, वह अपने पिता-समान श्वसुरके सामने साधारण घूँघट-मे भी क्यों झिझकती है? बस इसी सोच-विचारमें मैं यहाँ बैठा था कि वह वाक्य मेरे मुँहसे निकल पड़ा, जिसे सुनकर तुमने जाने कहाँ-कहाँके तुम्हके उड़ा मारे !”

“अच्छा जी, हम पतंग उड़ाते हैं और तुम्हके मारते हैं। खैर, चाहे जो कह लीजिए, पर यह बात एक कानसे सुन लीजिए और दूसरेसे पचा लीजिए कि आपने जो दृश्य देखा, वह पूरा नहीं, आधा है।”

“क्यों, आधा क्यों?”

“आधा इसलिए है कि उसका आधा हिस्सा मेरी जेबमें पड़ा है; यानी मैंने देखा है।”

“आधा हिस्सा तुमने देखा है, तुम्हारी जेबमें पड़ा है, क्या मतलब तुम्हारी बातका?”

“मेरी बातका मतलब कुछ नहीं है और जो कुछ है, वह आपकी समझमें झट आ जायेगा, जब आप मेरी बात सुनेंगे। खैर छोड़िए बहस और लीजिए वह बात सुनिए।”

आप हमारे इंजीनियर साहबको तो जानते ही हैं। अभी पिछले सप्ताह वे एक दूरके नगरसे तब्दील होकर हमारे नगरमें आये हैं। शामको यहाँ पहुँचे, तो उनको विभागके कर्मचारियोंने स्टेशनसे उनके लिए नियत बैगलेमें पहुँचा दिया। खाना खाकर वे सो गये और सुबह स्नान-ध्यानसे निपटकर चार्ज लेने दफ्तर चले गये।

उनकी पत्नी कलके सफरसे थकी हुई थीं, तो वे ड्राइड्रूमकी एक आरामकुरसीपर जा लेटीं। उन्हें झपकी-सी आयी ही थी कि किसीके पैरोंकी आहट पाकर उन्होंने आँखें खोलीं, तो देखा — एक स्वस्थ-सबल व्यक्ति उनके सामने खड़ा है। वे उसे देखते ही जोरसे बोलीं, “कौन है तू ? निकल यहाँसे। निकल अभी !” और पहले इसके कि वह कुछ बोले, उन्होंने अपने पुराने नौकरको आवाज़ देकर बुला लिया। उसने आनेपर देखा कि एक आदमी रूमालमें कुछ लपेटे खड़ा है और बहूजी चिल्ला रही हैं। वातावरण कुछ शान्त हुआ, तो आनेवाला बोला — “बहूजी, मैं तो इस कोठीका माली हूँ और आपके लिए हरसिगारके ये फूल लाया हूँ।”

दोपहरको इंजीनियर साहबने सारा क्रिस्सा सुना, तो पूछा, “जब वह कमरेमें आया, तो तुमने उससे उसका नाम-धाम क्यों नहीं पूछा ?” बोलीं, “हाँ, बात तो ठीक है, पर आप तो जानते ही हैं कि अजनबी आदमीसे शिक्षक तो होती ही है।”

अब कहिए, आपके चौधरीकी बहूका चित्र अधूरा है या नहीं कि वह अजनबी लोगोंमें तो नंगे सिर घूमती रही, पर स्वसुरजीको देखते ही कछवा बनकर सिमट पड़ी, पर हमारे इंजीनियर साहबकी श्रीमतीजी एक अजनबीको देखकर ऐसी शिक्षकीं कि उसका क्या पूछतीं, अपना ही अता-पता भूल गयीं।

और लो, सौ बातोंकी एक बात बताऊँ आपको कि क्या रखा है चौधरी साहबकी बहूके क्रिस्सेमें और क्या घरा है इंजीनियर साहबकी श्रीमतीके कथानकमें; अपनीसे हो या अजनबियोंसे, शिक्षक एक मानसिक रोग है। आत्महीनताके दो रूप हैं — डरपोक होना और झेंपू होना। यह रोग कुछ लोगोंमें तो सामाजिक परिस्थितियोंके कारण होता है और कुछमें घरेलू परिस्थितियोंके कारण। सामाजिक परिस्थितियोंका सर्वोत्तम उदाहरण तो आपके चौधरीकी बहू है और कुछ अंशोंमें इंजीनियरकी श्रीमती भी, पर घरेलू परिस्थितियोंका उदाहरण है मेरे पड़ोसी भाई नानकरामकी बेटी।

पिछले साल बी० ए० पास किया था उसने । कुछ दिनसे वह अस्वस्थ चल रही थी । उस दिन पिताके बहुत कहनेपर वह डॉक्टर शर्माके यहाँ गयी, तो जाना बेकार रहा; क्योंकि डॉक्टरको वह अपने रोगका हाल खुद तो क्या बताती, उनके प्रश्नोंका भी ठीक उत्तर न दे सकी । इसके लिए उसे डाँटा-डपटा गया, पर उसकी झेंपू वृत्तिका कारण उसके माता-पिता ही हैं, जो बचपनसे ही उसकी बात-बातमें आलोचना करते रहे हैं कि तू यह नहीं कर सकती, वह नहीं कर सकती । इस आलोचनाने उसे आत्महीन कर दिया और झिझकू बना दिया ।”

“जब आपने इतनी बातें बतायी हैं, तो यह और बताइए कि इस मानसिक रोगका इलाज क्या है ?”

“इलाज है परिवारोंके वातावरणकी स्वस्थता कि हमारे बालक इस तरह पलें कि उनमें आत्मविश्वास और सन्तुलनकी भावनाका उचित विकास हो । तब वे न डरपोक होंगे, न झेंपू और उनका हर व्यवहार एक स्वतन्त्र देशके नागरिककी तरह सन्तुलित और व्यवस्थित होगा ।”



पतिका नाम कैसे लें ?

श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसेन जैन उस दिन देहली जा रही थीं और मैं उन्हें पहुँचाने स्टेशन आया था। रेलके जिस डिब्बेमें वे बैठीं, उसमें एक प्रौढ़ महिला पहलेसे बैठी हुई थीं। मुझे देखकर ज़रा शिक्षकी-शिक्षकी-सी बोलों, “भाईजी, हमारा एक काम कर दोगे क्या ?”

“ज़रूर, आज्ञा दीजिए” मैंने कहा, तो बोलों — “यहाँके तार बाबूसे कहकर हमारे बाबूजीको गाज़ियाबाद यह कहला दो कि इस गाड़ीसे मैं आ रही हूँ, मुझे स्टेशनपर ही मिलें।”

मैंने कहा, “आप निश्चित रहिए; मैं अभी कहला देता हूँ। क्या नाम है बाबूजीका ?”

मेरा प्रश्न साधारण था, पर वातावरणने इसे असाधारण बना दिया। मैंने देखा कि वे प्रश्न सुनकर सकुचा गयी हैं। पतिका नाम लेना प्राचीन परम्पराके विरुद्ध है, यह मैं जानता था, पर समयकी बात, न पेन-पेंसिल मेरे पास, न उनके, तो मैंने कहा, “ऐसी हालतमें नाम बताना पाप नहीं है, आप धीरेसे बोल दीजिए भाई साहबका नाम।”

सुनकर उन्होंने अपने दायें हाथका पंजा तीन बार इस तरह हिलाया कि जैसे उन्होंने मेरे अनुरोधको तीन तालोंमें बन्द ही कर दिया। बड़ी कठिन परिस्थिति कि वे नाम लें, तो नरकका भय और न लें, तो खबर कैसे पहुँचाएँ ? कुछ सोचकर बोलों, “भाईजी, मैं आपको तरक्रीबसे उनका नाम बता रही हूँ, आप अक़लसे समझ लेना।”

अपनी अक़लका भरोसाकर मैंने कहा, “बताइए।” बोलों, “तुम किर्शनजीके बापका नाम जानते हो ?”

“किर्शनजी कौन ? भगवान् कृष्ण ?” मैंने पूछा, तो बोलों, “हाँ-हाँ, वे ही।”

“उनके बापका नाम तो वासुदेव था।”

उत्साहसे बोलों - “हाँ-हाँ ठीक है। बस इसमें अँगूठीवाला और जोड़ दो !”

अब मैं हैरान कि हे भगवान्, किशनजीके बापका नाम बताना तो आसान था, पर उसमें अँगूठीवाला कैसे जोड़ूँ ? और जोड़ूँ तो सही, पर यह अँगूठीवाला है क्या ? कुछ भी हो, कुछ-न-कुछ तो अब जोड़ना ही था, तो बहुत सोचकर कहा, “अँगूठीवाला, याने सोना ?”

बोलों, “नहीं, वो जो उसमें जड़ा जाता है - बहुत बढ़िया नग !”

“हीरा ?” बेवकूफकी तरह मैंने पूछा, तो उत्तर मिला - “नहीं, इससे भी बढ़िया, जो राजा लोग लगाते हैं - रंगका नाम भाईजी !”

भाईजी अब किनारे पहुँच गये थे - “लाल !”

सुनकर बहुत खुश हुई; याने उनके पतिदेवताका नाम वासुदेवलाल था। मैंने उन्हें सूचना भिजवा दी और लौट आया। चन्द्रवतीजी अभी तक मौन थीं। मेरे आते ही बोलों, “इन्होंने इतने घुमावदार चक्कर काटे; भला वे मुँहसे ही बोल देतीं, तो क्या हर्ज था !”

सुनकर बोलों, “अजी बहनजी, पतिका नाम कहीं मुँहसे लिया जाता है ?”

“क्यों, इसमें क्या हर्ज है ?”

“हर्ज क्या होता, यह तो धर्मकी बात है ?”

“इसमें धर्मकी क्या बात होती, यह तो आपका बहम है।”

“खैर बहनजी, हर्ज हो या बहम - हमारी तो बहुत-सी बीत गयी, थोड़ी-सी बाक़ी है। हमारे मुँहसे तो उनका नाम निकल नहीं सकता - आप चाहे जो कहो।”

गाड़ी चली गयी, मैं घर लौटा, तो मुझे याद आ गयी मेरी माँ। वह मूलीको ‘पत्तोंवाली’ कहा करती थी; क्योंकि हमारे वंशमें न जाने कब

कोई मूलचन्द हो चुके हैं। इसका अर्थ हुआ कि प्राचीन परम्परामें पतिका नाम लेनेसे तो स्त्रियाँ नरकमें जाती ही हैं, पति-गृहके किसी भी बड़ेका नाम लेनेसे मुन्शी चित्रगुप्त उसका नाम-पता नोट कर लेते हैं।

उस दिन कुसुम बेटो बीमार थी — मैं उसे देखने गया। मनोरंजनके लिए मैंने उसे 'किर्शनजीके बाप' की बात सुनायी। वह खूब हँसी, पर सने दो नये क्रिस्से सुनाये, जो मनोरंजक तो हैं ही, इस दिशामें नया ज्ञान भी देते हैं।

उसकी एक सहेली उसके घर खाना खाने आयी। उसके पतिका नाम है जादोप्रसाद। खानेमें नमक ज्यादा था, तो बोली, "कुसुम, तुम्हारी सब्जीमें नमक 'जबर' है। जबरका अर्थ हुआ जबरदस्त, पर उसका यहाँ प्रयोग हुआ 'ज्यादा' की जगह। क्यों? इसलिए कि वह 'ज्यादा' शब्दका उच्चारण नहीं कर सकती — 'ज्यादा' उसके पतिके नाम 'जादो' से उच्चारणमें समानता रखता है।

एक और सहेली है कुसुमकी। उनके पतिका नाम है समन्दरलाल। अब समन्दर तो उनके लिए वर्जित है ही, पर 'मन्दिर' और 'बन्दर' से भी वे घबराती हैं — मन्दिरको कहती हैं पूजालय और बन्दरको हनुमान्।

इन दो उदाहरणोंने परम्पराका नया भाष्य किया कि स्त्रियोंके लिए पतिका नाम लेना वर्जित, पतिके बड़ोंका नाम लेना वर्जित और इन दोनों-के नामोंसे मिलते-जुलते शब्दोंका उच्चारण भी वर्जित — भाई सन्तरामके बेटेकी बहू सन्तरको 'लाल छिलकेवाला' कहती है, सन्तरा नहीं — नारंगी भी नहीं कर सकती; क्योंकि वंशमें कभी नौरंगीलाल भी धूम-धामसे जन्म ले चुके हैं।

स्त्रियाँ अपने पतियों और दूसरे बड़ोंका नाम न लें, इस परम्पराका आधार क्या है? यह माननेमें कोई उलझन नहीं है कि इसका आधार

सम्मानकी भावना है । पुत्र अपने पिताओंका और शिष्य अपने गुरुओंका नाम कहाँ लेते हैं ? आधार शुद्ध है, पर नारी धीरे-धीरे इस भावनामें इतनी जड़ हो गयी है कि मेले-ठेलोंमें रह जानेपर भी स्वयंसेवकोंको अपने पतिका नाम बतानेमें सौ चक्कर काटती है । जब प्रथा विवेकसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर, कोरी प्रथा रह जाती है, रिवाज-रूढ़ि बन जाती है, तो उसका पालन करनेवालोंकी यही गति होती है !

युगकी नयी करवटमें हम इस प्रथाके साथ कैसा व्यवहार करें ? मैं एक अँगरेज़ी ढंगके परिवारमें चाय पीने गया । निमन्त्रितोंमें एक युवती एक युवकको बराबर परेश या परेशनाबू कहकर बातें करती रही । काफ़ी देर बाद मैं जान पाया कि ये पति-पत्नी हैं और अभी विलायतसे लौटे हैं । प्रश्न है कि क्या पतिका नाम न लेनेकी प्रथाके स्थानमें हम इस तरह खुले-आम नाम लेनेकी प्रथाको प्रोत्साहन दें ?

पतिका नाम लेना कोई पाप नहीं है — भले ही वह खुलेआम लिया जाये, पर भारतमें इस प्रथाका प्रसार सम्भव नहीं है — कहूँ, उचित नहीं है; क्योंकि यह भारतीय मर्यादाके विरुद्ध है — इसमें भारतीय हृदय पारिवारिक शालीनताका अनुभव नहीं करता ।

फिर उचित क्या है ? उचित और आवश्यक यही है कि भारतकी लड़कियाँ और बहुएँ यह जान लें — मान लें कि पति या दूसरे बड़ोंका नाम लेनेमें न कोई हर्ज है, न अधर्म और आवश्यक हो तो वे कहीं भी इन नामोंका आदरके साथ उपयोग कर सकती हैं ।

कब जायें, कबतक बैठें

“लो भाई, हम भी आ गये । श्रीमतीजीने कहा, रोज भाई साहबकी चर्चा करते हो, उनके गुण गाते नहीं अघाते, तो किसी दिन हमें भी उनके दर्शन कराओ, तो इन्हें भी साथ ले आये !”

मैं दफ्तरसे लौटकर आया, तो शर्ल बेटीने कहा, “बाबूजी, कल हमारा नागरिकशास्त्रका टेस्ट है । अध्यापिकाजी कह रही थीं कि जो लड़कियाँ इसमें फ़ेल हो जायेंगी, मैं उन्हें वार्षिक परीक्षामे नहीं बैठने दूँगी, इसलिए आप मुझे थोड़ी देर पढ़ा दें । आपका तो वह प्रिय विषय है ।”

मैंने कहा, तो फिर जल्दी-जल्दी चाय-नाश्तेसे निपट लो और पुस्तक लेकर आ जाओ । बस हम चायपर जानेको ही थे कि आ गये हमारे ही दफ्तरके मिस्टर हाण्डा अपनी सजी-धजी पत्नीके साथ और दरवाज़ेपर ही खड़े-खड़े बोले बड़े तपाकके लहज़ेमें ये बोल — “लो भाई, हम भी आ गये । श्रीमतीजीने कहा, रोज भाई साहबकी चर्चा करते हो, उनके गुण गाते नहीं अघाते, तो किसी दिन हमें भी उनके दर्शन कराओ, तो इन्हें भी साथ ले लाये !”

जीमें आया कि कहूँ — अरे भाई, दर्शन करने और करानेकी ऐसी ही लालसा थी, तो मुझे दफ्तरमें कह देते, मैं आपके घर आ जाता और यह बात पसन्द न थी; मन्दिरमें आकर ही मेरे दर्शनोंका पुण्य लूटना था, तो भले आदमी, मुझसे पूछ तो लेते कि किस दिन आयें, पर नहीं, यह कुछ नहीं । उठायी छड़ी और आ घमके । अब मैं आपको और आपकी श्रीमती-जीको दर्शन दूँ, कथा-प्रवचन सुनाऊँ, दोनोंका आतिथ्य-सत्कार करूँ या बेटी शर्लको नागरिक-शास्त्र पढ़ाऊँ !

पर नहीं, यह कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हम सम्य हैं और ऐसा कहना सम्यताके विरुद्ध है, इसलिए मैंने भी तपाकसे उठकर हाथ जोड़े, मुसकरानेके नामपर होंठ चौड़े किये और उल्लासकी उतरी हुई-सी चाशनी-में गलेको पागकर कहा, “आइए, आइए, बड़ी कृपा की, जो श्रीमतीजीको भी साथ लाये।”

हम लोगोंके लिए चायकी जो व्यवस्था हुई थी, वह इन दोनोंके आते ही फ़ेल हो गयी। पुराना टी सैट मेज़से हटाया गया, जिसकी केतली लाल फूलकी थी, तो दूध चीनीके बरतन नीले-पीले और हर प्याला इस तरह एक दूसरेसे अनुपम कि जैसे एशिया, युरोप और अफ़्रीकाकी भिन्न-भिन्न जातियोंके प्रतिनिधि किसी सम्मेलनमें एक साथ आ बैठे हों !

नया टी सैट मेज़पर आया, तो नयी तश्तरियाँ भी सजीं। हम लोगोंके लिए घरके बने जो शकरपारे काफ़ी थे उन्हें नाकाफ़ी घोषित किया गया और बाज़ारसे मिठाई-नमकीनके लिफ़ाफ़े आये। चादर भी बदली गयी और इस तरह कोई आध घण्टा लेट हमें चाय मिली।

बातें चलती रहीं, हँसी-मज़ाक़ होता रहा और मैं सोचता रहा कि कितनी नक़ली जिन्दगी जी रहे हैं हम लोग कि अपनी उन बातोंको, उन परिस्थितियोंको दूसरोंसे छिपाते हैं, जो खुद उनमें भी हैं और वे भी उन्हें हमसे छिपाते हैं। मुझे एक पुराना लतीफ़ा याद आ गया कि एक लड़कीको प्याज खानेका बहुत शौक़ था, इसलिए उसके मुँहसे प्याजकी तेज़ गन्ध आया करती थी। उसकी एक लड़केसे सगाई हो गयी। एक दिन किसी पार्कमें उस लड़कीको वह लड़का मिल गया और दोनों एक बेंचपर बैठ गये। लड़कीको यह फ़िक्र था कि मेरे मुँहकी गन्धसे यह लड़का भड़क न उठे। इसलिए वह अपना मुँह ज़रा दूसरी ओर कर बैठ गयी और बातें करने लगी।

समयकी बात, उस लड़केको भी प्याज खानेकी आदत थी और उसके मुँहसे भी उसकी तेज़ गन्ध आया करती थी। उसे भी डर था कि उस

गन्धसे यह लड़की भड़क न उठे। इसलिए वह भी अपना मुँह ज़रा दूसरी ओर करके बैठ गया। लड़कीने समझा कि इसे मेरे मुँहकी गन्ध पहुँच गयी है, इसीलिए यह मुँह फेरकर बैठा है, पर मज़ेकी बात यह कि लड़केने भी यही समझा और इस तरह दोनों ही शादीके मामलेमें निराश हो चले, पर दोनों एक दूसरेसे शादी करनेके लिए उत्सुक थे, इसलिए इस निराशासे दोनों ही दुःखी हुए।

निराशाकी इन घड़ियोंमें लड़कीने हिम्मत की और अपना मुँह लड़केकी तरफ़ करते हुए कहा, “मुझे बचपनमें यह बुरी आदत पड़ गयी थी, पर तुम्हारी खुशिके लिए मैंने अभी-अभी यह फ़ैसला किया है कि मैं आजसे ही इस आदतको छोड़ दूँगी।”

लड़केने चौंककर पूछा, “कौन-सी आदत?”

लड़कीने नम्रतासे कहा, “यही कम्बस्त प्याज़ खानेकी आदत!”

लड़केने लड़कीके निकट होकर और खुशमें डूबकर पूछा, “तो क्या तुम्हें भी प्याज़ खानेकी आदत है?”

“हाँ बहुत ज़्यादा!” लड़कीने कहा और दोनों बहुत जोरसे हँस पड़े— “अरे, हम दोनों प्याज़ खाते हैं और दोनों प्याज़से ही परेशान थे, यह ख़ूब रही!”

जो हाँ, यह ख़ूब रही, पर उनके साथ चाय पीते-पीते मैं सोच रहा था कि यह ख़ूब रही या बेख़ूब कि हम सब अपनी भी हालत जानते हैं और अपनीकी हालत भी जानते हैं, फिर भी हम अपनीके सामने बनते हैं और अपने हमारे सामने बनते हैं।

स़ैर साहब, छोड़िए इस समाज-शास्त्रको और सुनिए चाय-पानीकी बात। कोई एक घण्टे तक चाय चलती रही, गप्पें लड़ती रहीं। हम चाय-परसे उठे, तो मैंने सोचा कि अब हाण्डा साहब बिदा लेंगे, क्योंकि क्या था, जो हम कह न चुके थे और क्या था, जो हम सुन न चुके थे, पर भीतरके कमरेसे बाहरके कमरे तक आते-आते श्रीमती हाण्डाने अपनी घड़ी-

पर एक नज़र डाली और शर्लेको अपने साथ लपेटते हुए-से कहा, “शीला कह रही थी कि म्यूज़िकमें तो तुम अपनी वर्ल्डसमे सर्वश्रेष्ठ हो। अच्छा, बताओ तो कौन-कौनसे राग सीखे हैं तुमने ?”

शर्लेने कुछ रागोंके नाम बताये, तो श्रीमती हाण्डा एक कुरसीपर बैठते हुए बोली, “शल्लू बेटा, तुम्हारा एक गाना सुन कर ही जायेंगे हम तो !” शर्लेको कलके टेस्टकी चिन्ता थी, तो वह क्षिप्तकी और इस बारेमें मैं कुछ कहूँ कि उससे पहले ही हाण्डाजी बोले, “हाँ भाई, शर्ली बेटी हमारी बात माने-न-माने, पर अपनी आण्टीजीकी बात नहीं टाल सकती !”

मनमें आया कि कहूँ — अरे भाई, अब पीछा छोड़ो हमारा, पर कहा तो कि हम सभ्य आदमी हैं और जो कहना चाहते हैं उसे कह नहीं सकते, तो मानना पड़ा कि शर्ली बेटी अपनी आण्टीजीकी बात नहीं टाल सकती। क्या करती, बेचारी तानपूरा उठा लायी और उसने एक गीत गाया। गीतकी बहुत बहुत प्रशंसा कर वे दोनों उठे, तो हम लोग भी बाहर तक उन्हें पहुँचाने आये। अरे साहब, आये क्या, फँस गये। वे दोनों वहीं जम गये और लगे बातें करने। कोई पूछे उनसे कि भले आदमियों, तुम्हारा बातोंसे मन नहीं भरा था, तो भीतरसे उठे ही क्यों थे ? पर यह भी मैं सोच ही सकता था, कह तो न सकता था !

अचानक मिस्टर हाण्डाने घड़ी देखी और पत्नीको चलनेका संकेत किया, तो मैंने कहा, ठहरिए, मैं रिक्शा बुलाता हूँ। सुनकर दोनों एक साथ बोले, “ना, ना, हम तो अब सिनेमा जायेंगे।”

मैंने घड़ी देखी, तो मेरा दिमाग सुन्न हो गया — इस समय पौने सात बजे थे। मैंने सोचा — हाण्डा साहब मालूम होता है किसी दूसरे कामके लिए घरसे निकले थे कि उसे निपटाकर सिनेमा देखेंगे। वह काम किसी कारण हुआ नहीं, तो वे मेरे दर्शन करने चले आये और इस तरह अपना फ़ालतू समय यहाँ बिता, अब अगले प्रोग्रामपर जा रहे हैं !

चलते-चलते श्रीमती हाण्डाने कहा, “भाई साहब, इतनी देर आपके निकट रहकर बड़ा आनन्द आया। अब फिर किसी दिन आयेंगे आपके दर्शन करने !”

जीमे आया कि कहूँ — आप किसी दिन अवश्य पधारें। हाँ कृपाकर इतना ध्यान रखें कि वह दिन शर्ली बेटीकी परीक्षाके बादका हो, पर बात गलेमें आकर रह गयी, कहते न बनी — कहा तो मैंने आपसे कि हम सम्य आदमी हैं !

खैर, वे चले गये और हम अपने कमरेमें लौट आये — “अच्छा लो, अब उठा लाओ अपनी पुस्तक और जबतक खाना तैयार हो, आओ पढ़ाई-का काम करें।”

शर्ले भीतर गयी कि बाहरसे आवाज आयी — “भाई जी हैं ?” यह चन्दू भाईकी आवाज थी — “यह कम्बख्त कहाँसे आ मरा इस समय !”

मैं सोच ही रहा था कि वे आगे बढ़कर कमरेमें आ गये। देखा तो खून जम गया मेरा — वे, उनकी श्रीमतीजी और एक पला-पुसा लड़का; भगवान् की तीन मूर्तियाँ — साक्षात् सच्चिदानन्द ! मैं कुछ कहूँ-पूछूँ कि वे बोले, “एक लड़की देखने दोपहरकी गाड़ीसे आये थे और इस गाड़ीसे लौटना था, पर स्टेशन गये, तो गाड़ी निकल गयी। अब साढ़े नौ बजेकी गाड़ीसे जायेंगे। सोचा — तब तक भाईजीके ही दर्शन कर लें।”

एक सज्जन सिनेमा तकका समय काटनेको मेरे दर्शन करने आये थे और दूसरे गाड़ी तकका समय काटनेको दर्शन करने आये हैं ! गलेमें कई गरम शब्द बाहर आनेको जमनास्टिक करने लगे, पर सोचना अपने बसका है, कहना तो नहीं। फिर पहले जो आये थे, वे तो दफ्तरके ही साथी हैं, पर ये बादमें आनेवाले तो उसी क्रस्बे और कुटुम्बके हैं, जिसमें मेरा जन्म हुआ था। इसलिए उन गरम शब्दोंको रोककर स्वागतके कुछ नरम शब्द कहे और उन्हें बैठाया।

“बाबूजी, भोजन ठण्डा हो रहा है तो पहले खाना खा लें और तब हम बेफ़िकरीसे पढ़ने बैठें !” शर्ल ने भीतरसे आकर कहा, तो मेरे सामने एक नयी समस्या खड़ी हो गयी कि इनसे खानेके लिए पूछें या नहीं ? समस्या हो तो उसकी पूर्ति करनी ही पड़ती है, तो कहा उनसे ।

“अच्छा, भोजनकी बात बताइए ?”

मानता हूँ, मेरा प्रश्न गोलमाल था; पर जब परिस्थितियाँ ही गोल-माल हों, तो प्रश्न कैसे स्पष्ट हो ? कहूँ कि जब कोई आदमी बिना पहलेसे सूचना दिये, ठीक भोजनके समय पूरे कुटुम्बके साथ आ जाये, तो उससे और क्या पूछा जा सकता है ?

अरे साहब, मैं डाल-डाल था, तो वे पात-पात निकले और मेरे गोल-माल प्रश्नका ऐसा उत्तर दिया कि उसे पूरबसे देखो, तो गोल और पश्चिम-से देखो, तो माल । बोले, “भोजनकी बात रहने दीजिये, अब क्यों तकलीफ़ करते हैं !”

अब आप ही बताइए कि मैं तकलीफ़ न करता, तो क्या करता ? परिवारके तीन आदमियोंके लिए चूल्हेपर खिचड़ी चढ़ायी गयी और झूठका सहारा लेकर कहा गया कि वे पहले भोजन कर चुके हैं । बाक़ीने उनके साथ भोजन किया और फिर बाहरके कमरेमें आ बैठे ।

शर्ल अपनी पुस्तक लेकर आ बैठी और उसने यह भी सुना दिया कि कल उसका टेस्ट है और इस समय उसे मुझसे पढ़ना है, पर मेरे मेहमान न उठकर चले, न बातोंसे बाज़ आये । जीमें आया कि उनसे कहूँ — आपको समय काटना है और मुझे समयका उपयोग करना है, इसलिए आप अपना काम स्टेशनके प्लेटफ़ार्मपर भी कर सकते हैं, पर जीमें आनेसे तो बात कानमें पहुँचती नहीं और मुँहसे कहते मुझसे न बना । नतीजा यह कि अपनी गाड़ीके समय तक वे जमे रहे और उनके उठनेसे पहले ही शर्ल अपनी पुस्तक लिये उठकर भीतर चली गयी !

बहुत बार सोचता हूँ कि ऐसे मौकोंपर मुझे अपने मेहमानोंसे साफ़-साफ़ कह देना चाहिए कि मेरा घर वेंटिगरूम नहीं है कि जब आप चाहें उसमें घुस जायें और जबतक चाहें जमे रहें, पर क्या बताऊँ आपसे कि यह बात कहते नहीं बनती — हाँ साहब, नहीं बनती !

ठीक है, कहते नहीं बनती, पर स्वस्थ सामाजिकताका, घर-गृहस्थीकी स्वच्छ मर्यादाका मूल प्रश्न तो यह है ही नहीं कि कहते क्यों नहीं बनती, वह तो यही है कि सोचते क्यों नहीं बनती ? जो लोग दूसरोंके घर जाते हैं, वे यह क्यों नहीं सोच पाते कि हम कब जायें ? कब न जायें ? कबतक बैठें ? कब उठ आयें ?

बात यह है कि मनुष्य घरसे बाहर रहता है, तो सामाजिक नियमोंमें बँधा रहता है, पर अपने घरमें वह उन्मुक्तता अनुभव करता है । किसीके घर कोई जाये तो इस तरह जाये — बैठे कि उसकी उन्मुक्तता मुरझा न जाये, ताजी बनी रहे ।



राहत या बोझ ?

आपके कोई मित्र बीमार हैं और आपके सम्बन्धोंका तकाजा है कि आप उन्हें देखने जायें । देहाती कहावत है कि सुखमें चाहे दूर रहे, पर दुःखमें दूर न हो ! ठीक है, आपको जाना ही चाहिए, पर क्या आप समझते हैं कि आपको जानेसे पहले कुछ भी सोचनेकी जरूरत नहीं है ? यदि आप इसपर हाँ कहेंगे, तो भले ही आप नाराज हो जायें, मैं कहूँगा कि जब ईश्वरके यहाँ अक्ल बँट रही थी, आप काफ़ी पिछली क़तारमें थे ।

अच्छा, आप अपने मित्रकी बीमारीका समाचार पा, उन्हें देखने क्यों जाना चाहते हैं ? बीमारीकी वजहसे वे कुछ तमाशा तो बन ही नहीं गये कि उन्हें देखकर आपको कुछ नया लुत्फ़ आये । वे ज्योंके-त्यों हैं, बल्कि कुछ कुम्हलाये हुए, परेशान-से ही होंगे । फिर आप भी एक भले आदमी हैं, उस बादशाह-जैसा शौक तो आपको न होगा, जो आदमीको भेड़ियोंके झुण्डमें फेंककर तमाशा देखा करता है ।

हूँ, आप अपने मित्रसे हमदर्दी प्रकट करने, उनका दुःख बटानेके लिए वहाँ जाना चाहते हैं । यह बहुत अच्छी बात है और इसके लिए मैं आपकी प्रशंसा करूँगा, पर इस हालतमें तो यह बहुत ख़ूरी है कि आप जानेसे पहले कुछ नहीं, काफ़ी सोचें, समझें और तब वहाँ जायें, क्योंकि बिना सोचे-समझे यदि आप वहाँ जायें, तो बहुत मुमकिन है कि उनका दुःख बँटानेके बदले बढ़ा दें ।

सोचनेकी सबसे पहली बात यह है कि आप वहाँ किस समय जायें ?

बीमार आदमियोंको रातमें ठीक नींद न आना मामूली बात है । इसलिए मुमकिन है कि आपके मित्रको भी रात ठीक नींद न आयी हो और रात बीतते-न-बीतते ही वे सोये हों । इस हालतमें यदि प्रातः पाँच

बजे अपने घूमनेके समयमें आप यह सोचें कि अपने बीमार मित्रसे भी मिलते चलें, तो यकीन कीजिए कि यह उनके लिए एक मुसीबत होगी। आपके पहुँचनेपर वे हड़बड़ाकर उठेंगे और ऐसी हड़कलका सामना करनेको मजबूर होंगे, जो उनकी हड्डियों तकको बीध दे। भरी दुपहरीमें वहाँ जाने-पर और रातमें देरीसे जा-धमकनेपर भी यही खतरा है; इसलिए अपने बीमार मित्रके पास जानेमें आप अपना नहीं, उनका ही सुभीता अपने ध्यानमें रखिए।

दूसरी बात सोचने लायक यह है कि आप वहाँ जाकर किस तरहकी बातें करें और किस तरहकी बातें न करें ?

हरेक बीमारी किसी-न-किसी कारणसे होती है और ये कारण मामूली हैं — हरेकके लिए समान। इस हालतमें बीमारपर यह जोर डालना कि वह आपको, याने हरेक आनेवालेको, अपनी बीमारीका इतिहास सुनाये, बहुत बड़ी ज़्यादती है, माफ़ कीजिए बेवकूफी भी है।

आपके लिए इतना ही काफी है कि आप यह जान लें कि आपके मित्रको क्या तकलीफ़ है और ज़्यादासे-ज़्यादा यह भी कि कबसे है ? आपका यह जानना मुनासिब है कि इलाज किसका है और उससे क्या लाभ हो रहा है ? यह आप स्वयं बीमारसे न पूछकर; घरके दूसरे लोगोंसे ही मालूम कर लें, तो ज़्यादा ठीक होगा।

इस सिलसिलेमें अहमकपनकी बात यह होगी कि आप यह जाननेके बाद भी कि किसी वैद्य, डॉक्टर या हक्तीमका इलाज हो रहा है, अपनी दवाएँ बतायें कि यह इलाज करो, वह इलाज करो ! इस मामलेमें ज़्यादासे-ज़्यादा गुंजायश यह है कि यदि मौजूदा इलाजसे लाभ न हो रहा हो, तो आप किसी ऐसे डॉक्टर-वैद्यका नाम उन्हें बता दें, जो आपकी रायमें नहीं, अनुभवमें, इस रोगके लिए होशियार हो।

जो रोग आपके मित्रको है, वह आपकी जानकारीमें पहले भी दूसरे लोगोंको हो चुका होगा। यह भी तय है कि उस रोगमें उनमें-से बहुत-से

मर भी गये होंगे, पर अब क्या आपके लिए यह उचित होगा कि उन मरे हुआओंकी कहानियाँ आप अपने बीमार मित्रको सुनायें ? इससे नुक़सानके सिवाय लाभ क्या है ?

रोगीका कमजोर होना स्वाभाविक है, पर यदि आप बार-बार अपने मित्रकी कमजोरी उन्हें याद दिलायें, तो यह आपके नादान दोस्त होनेका ही सबूत होगा ।

आप अपने बीमार मित्रके पास बैठकर उनके दिलका जो सबसे बड़ा काम कर सकते हैं, वह यह कि आप इस तरहकी बात-चीत करें कि आपके मित्र हँसें और उतनी देर अपनी बीमारीको भूले रहें । यहाँ एक ख़तरा है और वह यह कि आप इस बात-चीतमें इतने लीन हो जायें कि आपके मित्र न भोजन कर सकें, न विश्राम और जब आप वहाँसे उठें, तो वे यह महसूस करें कि रोग अब उनपर और भी छा गया है ।

बीमार मनुष्यके घरवालोंपर पहले ही बहुत काम बढ़ा रहता है । अब यदि आप भी चाय, पान, सिगरेट आदिका अपना काम उनपर ढाल दें, तो वह क्रूरता ही होगी । हाँ, यदि उतने समयमें बीमारकी सेवाका कार्य अपने जिम्मे लेकर बाज़ारसे ज़रूरतकी चीज़ें लाकर और दूसरी तरह उन्हें कुछ हलका कर सकें, तो उनके लिए आपका आना उपयोगी हो सकता है ।

इस तरह अपने बीमार मित्रके पास जानेसे पहले ही बहुत कुछ सोचनेकी ज़रूरत नहीं है, वहाँ पहुँचकर भी यह सोचनेकी ज़रूरत है कि आपके जानेसे बीमार और तीमारदारपर किसी तरहका बोझ तो नहीं पड़ा ?

ठहरें कहाँ ?

मैं चार वर्षका हुआ, तो बड़े भाई राजाराम प्लेगमें लोगोंकी सेवा करते शहीद हो गये और माँके आठ बच्चोंमें मैं अकेला रह गया। प्लेगको वह आग कहा करती और उसका कहीं नाम भी सुनती, तो चौंक पड़ती।

मैं हूँगा कोई सात वर्षका कि प्लेगकी खुनखुनी फिर सुनायी दी। माँ बिजलीसे जली थी, तो हर चिनगारीमें उसके लिए प्रलयकी हुंकार थी। वह चौंकी-घबरायी चिन्तित हुई, पर करे क्या ?

हमारे परिवारके विश्वसनीय मित्र श्री चतुर्भुजजी दिल्ली जा रहे थे। माँने मुझे उनके साथ भेज दिया। गाड़ीमें बैठकर मनमें उमड़ी हजारों जिज्ञासाओंको समेटकर एक प्रश्नमें मैंने पूछा, “पण्डितजी, हम ठहरेंगे कहाँ ?”

अपने स्वभावके अनुसार हँसकर बोले, “अपने घर ठहरेंगे।”

मैंने आश्चर्यसे पूछा, “दिल्लीमें भी हमारा घर है ?”

बोले, “बेटा, धर्मशाला-सराय सफ़रमें सबका घर होता है।”

दिल्लीमें गाड़ीसे उतरकर हम सीधे लक्ष्मीनारायण धर्मशाला पहुँचे। मैंने अपने जीवनमें इतना बड़ा मकान पहली बार देखा था। आराम भी वहाँ बहुत मिला। रोनक तो मेरे बाल-मनको इन्द्रपुरी-जैसी लगी और अपने जीवनकी पहली यात्रामें ही मेरा संस्कार बन गया कि धर्मशाला-सराय सफ़रमें सबका घर होता है। बादमें मैंने धर्मशाला-सरायके साथ होटलको और जोड़ दिया।

होटल-धर्मशाला-सरायकी बात करते अपने जीवनकी एक बहुत मछे-दार बात याद आ गयी। १९३० के कांग्रेस-आन्दोलनमें जेल गया, तो

हजारों आदमियोंकी भीड़ यों साथ थी कि जैसे मैं ही सातवें आसमानका राजा हूँ; पर १९३२ लार्ड विलिंगडनके आतंकका युग था कि लोग पास आते डरते थे और अधिकारी पूरी तरह चौकन्ने थे कि कोई हमारे पास आये, तो उसका पूरा मजा पाये ।

मैं अपने नगरमें शामको गिरफ्तार हुआ और रातमें नौ बजेकी गाड़ी-से सहारनपुर भेज दिया गया । मेरे एक हाथमें हथकड़ी लगी हुई थी और दो सिपाही साथ थे । दस बजे हम सहारनपुर पहुँचे, पर अजीब बात कि न मुझे जेल लेनेको तैयार हुई, न कोतवाली । जेलका जवाब यह कि इस समय हम कैसे ले सकते हैं ? और कोतवालीका जवाब यह कि रातमें क़ैदी भाग गया, तो कौन ज़िम्मेदार होगा ?

मैंने अपने पहरेदारोंसे कहा, देवबन्द-कोतवालीको मेरी ज़रूरत होती, तो रातमें मुझे क्यों निकालती और यहाँ किसीको ज़रूरत होती, तो रख ही लेता, इसलिए तुम मेरी हथकड़ी निकाल लो और रातकी गाड़ीसे लौट जाओ । मैं कल सहारनपुरमें धूम मचाऊँगा और तब ये ही लोग पूरे प्यारके साथ मुझे ले लेंगे ।

इसपर हम तीनों खूब हँसे । तभी कानोंमें पड़ी आवाज़ — “सराय बन्द होती है कोई मुसाफिर हो, तो आ जाओ ।” और हम तीनों सेण्ट्रल बैंकके पीछेवाली सरायमें जा पहुँचे । तीन ख़ाटें हमें मिल गयीं । एक सिपाहीने अपना ओवरकोट मेरे नीचे बिछा दिया और मेरी हथकड़ीकी रस्सी मेरी ही खाटपर रख दी । कम्बल मेरे पास था ही—ओढ़कर सोया, तो सुबह ही उठा और मन-ही-मन याद किया पण्डित चतुर्भुज शर्माका वह सूत्र कि बेटा, धर्मशाला-सराय सफ़रमें सबका घर होता है । ठीक ही तो कि जिसे जेल अपने सीखचोंमें न ले, कोतवालीकी हवालातमें जिसके लिए जगह न हो, सराय-धर्मशाला उसे भी जगह दे देती है ।

सराय बादशाही वक्त्रकी यादगार है और धर्मशाला उन्नीसवीं शताब्दी-के अन्तिम दिनोंकी देन, जब रेलें निकलीं और तीर्थ-यात्राएँ सुगम हुईं,

तो पण्डोंके घर यात्रियोंके लिए अपर्याप्त हो गये । वे कहाँ जायें ? धर्म-शालाने इसका उत्तर दिया—यहाँ । सरायसे पहले समयमें मुसाफ़िरोके काफ़िले चलते थे, जो 'पड़ाव' पर ठहरते थे और छुट-पुट यात्रीका काम चल जाता था गृहस्थकी बैठकमें — अतिथि-यज्ञ उस समय एक धर्म-कार्य था । जब शहरोंमें अँगरेजोंके साथ पश्चिमी सम्यता आयी, तो होटल भी आये और इस तरह घरसे बाहर ठहरनेके स्थान हो गये — किसी मित्र-सम्बन्धीका घर, सराय, धर्मशाला और होटल ।

अब आप हों या मैं, किसी दूसरे नगरमें जानेके लिए घरसे चलते ही प्रश्न उठता है — ठहरें कहाँ ? किसी मित्रके घर, सरायमें, धर्मशालामें या होटलमें ? इसका उत्तर पानेके लिए एक ओर प्रश्नका उत्तर देना पड़ेगा कि आपकी जेबमें पैसे हैं या नहीं ? यदि पैसे हैं, तो आप सरायमें या होटलमें ठहर सकते हैं और नहीं हैं तो फिर किसी मित्र-सम्बन्धीके घर या धर्मशालामें । सरायमें कम और होटलमें खर्च ज्यादा है; वैसे ही आराम भी कम-ज्यादा है । सरायमें सादगी है, होटलमें शान है; जो जैसा चाहे चुनाव कर सकता है ।

हम कहाँ ठहरें ? यह हुआ इस प्रश्नका व्यावहारिक पहलू, पर इस प्रश्नका एक नैतिक पहलू भी है कि क्यों ठहरें ? इसे न समझें, तो हम अपनी सम्यताका अनसमझा और अधूरा प्रतिनिधित्व ही कर सकेंगे ।

मेरे एक मित्र हैं । वे काँचका व्यापार करते हैं कि विभिन्न फैक्टरियों-से सामान लें और विभिन्न नगरोंमें उसे बेचें । एक बार मैं अपनी यात्रासे रातमें दो बजे घर लौटा, तो भाँचक — क्या मैं अपने घरके सामने खड़ा हूँ ? काँचके सामानसे भरे कोई पन्द्रह-बीस खाँचे एकके ऊपर एक गैलरीमें, चौक-में, छज्जेके नीचे; और सब जगह उनका बिखरा हुआ फूस; जैसे यह माल-गोदामकी कोई ब्रांच हो ! कोई दस दिनोंमें उनका वह सामान बिका और मकान साफ़ हुआ, पर पन्द्रह-बीस दिन बाद वे फिर आये और उसी तरह आये, तो कामका बहाना कर मुझे बाहर चले जाना पड़ा, पर वे तीसरी

बार आये, तो पूरा वंगन-भर सामान उनके साथ था। मैं कई बार उनके घर ठहरा था, वे मेरे घर ठहरे थे, पर क्या यह भी ठहरना था ? मुझे कहलाना पड़ा कि यह उनका घर है, जब चाहें पधारें, पर उसे माल-गोदाम न बनायें।

एक और मित्र हैं। सरकारी अफसर हैं। पहले छोटे थे, अब बड़े हो गये हैं। अपने सरकारी दौरेपर आये, तो स्टेशनसे अपने मातहतोंके साथ दफ्तर चले गये और सामान मेरे घर भेज दिया, इस आदेशके साथ कि हम दो बजे खाना खायेंगे — वे और उनका अर्दली। समयकी बात, उस दिन घरमें एक बालक इतना बीमार था कि जीवनकी आशा कम और मृत्युकी सम्भावना अधिक थी। फिर भी उनका आतिथ्य किया — करना ही पड़ा। यह 'पड़ा' कितना कड़ा था, यह तब जाना, जब मेरे बेदेकी बहू भगवतीने उनके जानेपर कहा, "कैसे-कैसे आदमियोंको सरकारने अफसर बना रखा है पिताजी !"

इन दो अनुभवोंके साथ एक अपना ही और अनुभव : एक बड़े शहरसे एक मित्रका पत्र आया कि मेरी लड़कीका रिश्ता हो जाये और मैं गंगा नहा जाऊँ, यदि दो-तीन दिनके लिए आप आ जायें, क्योंकि श्री अमुक और श्री अमुकके लड़के खाली हैं और उन दोनोंपर आपका गहरा प्रभाव है। दूसरे दिन मैं वहाँ चला गया और स्टेशनसे उतर सामान अपना होटलमें रख, उनके घर पहुँचा। सबसे पहला प्रश्न था — "और सामान कहाँ है ?" मैंने हूँ-हाँ करके बात टाल दी और उनके काममें लग गया, पर तीसरे दिन उनका काम करके चलते समय जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मैं होटलमें ठहरा था, तो वे बहुत नाराज हुए और उन्होंने इसकी बार-बार शिकायत की। बादमें एक परस्पर सामान्य (कॉमन) मित्रने अपने पत्रमें मुझे लिखा — "....आज मिले थे और आपकी बहुत शिकायत कर रहे थे। कह रहे थे कि भाई साहबने हमें इस लायक भी नहीं समझा कि हमारे पास ही ठहर जाते। मेरी समझमें तो उनकी बात ठीक है और

आपके व्यवहारमें उन्होंने यदि अपमान अनुभव किया है, तो यह उचित ही है।”

इन उदाहरणोंसे ‘कहाँ ठहरें’ का एक समाधान-सूत्र इस प्रकार बनता है : हम यदि अपने व्यापार या सरकारी कामसे किसी नगरमें जाते हैं, तो उचित है कि धर्मशाला, सराय या होटलमें ठहरें और अपने ठहरनेका बोझ किसी मित्रपर न डालें, पर यदि किसी मित्रके बुलानेपर या उनके कामसे जायें, तो उनके घर ठहरें।

एक बात और — शहरोंमें नागरिकोंके मकानोंकी और विशेष रूपसे मध्यम श्रेणीके नागरिकोंमें जो दशा है, उसमें किसी बाहरी आदमीका कम-से-कम दिनोंके लिए आकर ठहरना भी सुविधाजनक नहीं होता, फिर भी सबको कभी-न-कभी और किसी-न-किसीके यहाँ ठहरना ही पड़ता है, तो इसकी कसौटी क्या है कि किसके घर हम ठहरें और किसके नहीं ?

— जिनके घर आप ठहरना चाहते हैं, क्या उनके परिवारसे आपका ऐसा सम्बन्ध है कि उसकी महिलाएँ भी आपसे बोलती-चालती हैं ?

— क्या उनके घरमें इतना स्थान है कि वे आपको अलग कमरेमें ठहरा सकें ?

— क्या उनकी आर्थिक और मानसिक स्थिति ऐसी है कि आपके जाने-से वे सुख अनुभव करें — कमसे-कम परेशानी या बोझ अनुभव न करें ?

— क्या आपने अपने आनेकी सूचना उन्हें दी थी और उसका जो उत्तर आया है, उसमें उनके हादिक उत्साहकी झलक है ?

यदि इन प्रश्नोंका उत्तर हाँमें है, तो हम उनके घर ठहर सकते हैं, नहींमें है, तो उनके यहाँ ठहरना अनुचित है।

ये हैं मेरे मित्र श्री ओमप्रकाश मित्तल। आप जानते ही हैं कि बड़े तौर-तरीक़ेके और एटीकेट-मैनरके आदमी हैं। इस विषयपर बात चली तो बोले, “यदि आप यह जानना चाहते हैं कि अमुक मित्र उनके घर आपके ठहरनेसे सुख अनुभव करते हैं या नहीं तो उसका सरल उपाय यह

है कि आप उन्हें एक पत्र लिख दें कि अमुक तारीखको मैं आ रहा हूँ और आपके पास ठहरूँगा, पर जायें नहीं। अब यदि उनका पत्र आता है कि आप आये नहीं, बड़ी निराशा हुई, भोजन बना रखा रहा, बच्चे बार-बार पूछते रहे, तो समझ लें कि उन्हें आपके ठहरनेसे सुख होता और यदि पत्र न आये या उधारा-सा आये, तो मतलब इसके विपरीत है।

मित्तलजीका अनुभव लाख गिन्नीका है, पर इसके आस-पास ही एक और अनुभव है कि आप अपने मित्रको पत्र लिखें कि मैं अमुक दिन आ रहा हूँ और आपके ही पास ठहरूँगा, पर ठहर जाइए होटलमें या कहों और, और घूमते-फिरते उनसे भी मिल लीजिए और अपने अन्यत्र ठहरनेकी बात सुना दीजिए। अब यदि वे गहरी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं या बिस्तरा उठाकर लानेके लिए साथ चलनेका आग्रह करते हैं, अपने पास काफ़ी स्थान होनेकी बात कहते हैं, तो भविष्यमें आप उनके यहाँ ठहर सकते हैं।

एक और मित्र हैं। उनका अनुभव इन सब अनुभवोंका संगम है कि ठहरो तो होटल-धर्मशालामें, पर खाना खाओ मित्रोंके घर। वह भी उस मित्रके घर, जहाँ भोजनके समय पहुँच जाओ। उनकी युक्ति यह है कि मित्रोंको अपने घर ठहरानेमें तो होती है परेशानी, पर भोजनके समय भोजन करानेमें मिलता है सुख, तो उनका नारा है — ठहरो मत, सिर्फ़ भोजन करो और इस प्रकार दुतरफ़ा सुखकी साधनामें सिद्धि पाओ।

प्रश्न है कि इधर-उधरकी इन गलियोंमें घूमकर हम कहाँ पहुँचें ? हम पहुँचें इस परिणामपर कि जबतक किसीके साथ बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध न हो और विशेष कारण एवं परिस्थितियाँ न हों, आप चाहे जहाँ ठहरें, पर किसी मित्रके घर न ठहरें और विशेष सम्बन्ध, कारण और परिस्थितिमें भी जब ठहरें, तो ठहरनेके विधानका पालन अवश्य करें।

किसीके घर ठहरनेका भी कोई विधान होता है ?

होता है और उसका पालन न किया जाये, तो फिर मेहमान और पशुमें कोई अन्तर नहीं रहता । अनुभवोंकी भाषामें इस विधानके नियम बनते हैं और हम उन्हें सुगमतासे पढ़ सकते हैं :

श्री घनश्यामदास बिड़लाके अनुरोधपर सरदार पटेलने कुछ दिनके लिए नयी दिल्लीके बिड़ला हाउसमें ठहरना स्वीकार कर लिया । पहले ही दिन उन्होंने अपनी पुत्री मणिबहन पटेलसे कहा, बिड़ला-परिवारका दैनिक समय-विभाग मालूम कर लो और अपना समय-विभाग उसीके अनुसार बना लो ।

बिड़लाजीका आग्रह था कि सब काम सरदारके समय-विभागके अनुसार हो, पर सरदारने इसे माननेसे साफ़ इनकार कर दिया और अपने कार्यक्रमको परिवारके कार्यक्रममें ढाल लिया कि जितने बजे वहाँ चाय पी जाती है, सरदार भी उतने बजे चाय पीयेंगे और वहाँ जितने बजे भोजन किया जाता है, सरदार भी उतने ही बजे करेंगे ।

सरदारके इस अनुभवकी छायामें विधानका पहला नियम यह है कि जब आप किसीके घर ठहरें, तो इस बातका ध्यान रखें कि उसके चले आ रहे कार्यक्रममें कोई उथल-पुथल न हो और उन्हें अपनी सदाकी राह छोड़ कर आपकी राह न चलनी पड़े ।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू उन दिनों सम्भवतः कांग्रेसके प्रधान थे और देशका तूफ़ानी दौरा कर रहे थे । बड़ौदा वे गये, तो तैयब साहबके घर ठहरे । दिन-भरका कार्यक्रम निपटाकर रातमें पण्डितजीको उनके घर सोना था, पर दस बजे तक भी वे न आये, तो तैयब-परिवारके लोग बिजली बुझाकर लेट गये कि जब पण्डितजी आयेंगे, तो उठ जायेंगे, क्योंकि इन दोरोंमें देर-सबेर हो जाना मामूली बात थी, पर वे लेटे-लेटे सो भी गये और सुबह भी हो गयी । उठे, तो सन्न कि रातमें नेहरूजीका क्या हुआ ?

हड़बड़ाकर किसीने नेहरूजीके कमरेमें झाँका, तो देखा कि वे मजेसे हज़ामत बना रहे हैं — “अरे, आप कब आये ?”

“यही कोई रातमें बारह बजेके बाद !” नेहरूजीने कहा ।

“अजीब बात है कि न चौकीदारने हमें खबर दी, न आपके आनेकी आवाजसे आँख खुली !” सबके मनकी बात थी, पर चौकीदार कैसे खबर देता और आनेकी आवाज ही कैसे होती ? बात यह हुई कि तैयब साहबकी कोठी दुमंजिली थी, उसके आगे एक बड़ी बाटिका थी और तब सरकारी सड़क थी । पण्डितजी आधी रात लौटे, तो सड़कपर ही मोटरसे उतर गये और उन सबको वहींसे बिदा कर दिया, जो उनके साथ थे । बागमें घुसकर उन्होंने चौकीदारको ऊपर खबर देनेसे रोक दिया और जीना चढ़नेसे पहले ही उन्होंने जूते निकालकर हाथमें उठा लिये । अपने कमरेमें पहुँचकर भी उन्होंने कमरेकी बिजली नहीं जलायी और बाथरूमकी बिजली जलाकर वहीं कपड़े बदल लिये और चुपचाप सो गये ।

जवाहरलाल नेहरूके इस अनुभवकी छायामें इस विधानका दूसरा नियम यह बनता है कि जब आप किसीके घर ठहरें, तो इस बातका ध्यान रखें कि आपके कारण उसके आराममें, उसकी शान्तिमें, उसकी प्रसन्नतामें बाधा न पड़े ।

लोक-कथा है कि एक तरुण थे । घरमें अभाव था, गरीबी थी, पर विद्वान् थे, तो एक खाते-पीते परिवारमें विवाह हो गया । ससुराल गये तो खूब खातिरें हुईं — दोनों समय चकाचक माल छने; जिनका उन्हें सपना भी न आया था । वे भरपूर-पाँचो घीमें ! अपने घर था ही क्या कि उसकी याद सताती; बस आये कि जम गये — दो दिन, चार दिन, सप्ताह, पर खेमा उखड़नेका कहीं कोई आसार नहीं — हे भगवान्, जमाई है या जम ?

सास-ससुर तो फिर भी सह लें, पर साले-सलहजोंको यह असह्य । पण्डितजीका बड़ा साला भी विद्वान्, तो विद्वान्ने विद्वान्पर निशाना साधा और कोयलेसे दीवालपर श्लोकका यह टुकड़ा लिख दिया —

“श्वसुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणां ।

यदि वसति विवेकी पञ्च वा षड् दिनानि ॥”

ससुरालका निवास मनुष्यके लिए स्वर्गके तुल्य है; यदि विवेकी पुरुष वहाँ पाँच-छह दिन ही ठहरे !

जीजाने सालेकी रचना पढ़ी, उसे भाँपा और समझा भी कि अब खिसकना ही ठीक है, पर स्वादिष्ट भोजनोंके ध्यानसे पैर भारी हो गये। सोचा ज्यादा नहीं, तो महीना-भर तो ठहरा ही जाये, पर क्या ये लोग इतने दिन ठहरना बरदाश्त करेंगे ? दूसरे दिन उन्होंने भी अपने सालेकी कलाका अनुकरण कर उन पंक्तियोंके नीचे अपनी भी एक पंक्ति कोयलेसे लिख दी, जिसमें अपना कार्यक्रम भी था और उनकी स्वीकृति-की माँग भी थी —

“दधि-घृत-मधु-लोभात् मासमेकं वसेत् चेत् ?”

दही, घी, शहदके लोभसे कोई अपनी ससुरालमें एक महीना ठहर जाये तो ?

सालेने पढ़ा, तो चौंका वह — बाप रे, एक महीना; कानखजूरा ही हो गया यह जोजा तो, और तब उसने वहाँ जड़ दी चौथी पंक्ति,

“भवति विगतलज्जो मानवो मानहीनः !”

पंक्ति क्या थी, कानखजूरेको खुरच खींचनेका चिमटा था—तब आदमी-की लाज धुल जाती है और ससुरालमें उसका कोई मान नहीं रहता ! पता नहीं, जमाई महाशय नौ-दो ग्यारह हुए या फिर भी पत्तल चाटते रहे, पर उनके अनुभवकी इस छायामें विधानका तीसरा नियम यह है कि जब आप किसीके घर ठहरें तो इस बातका ध्यान रखें कि यह आपका निवास नहीं, प्रवास है और यहाँसे यों चलना है कि आपको अभी एक-दो दिन ठहरानेकी लालसा घरके लोगोंमें शेष हो — निःशेष न हो जाये।

श्रीरामचन्द्र शर्मा महारथी, दिल्लीमें हम अनेकोंके एक मित्र हैं और सचमुच उनका घर हमारे लिए अपना ही घर रहा है। एक बार मैं रेडियो-पर ‘टॉक’ देने गया, तो वहीं ठहरा। रेडियो स्टेशन गया, तो श्री बाबूराम पालीवाल मिले। वे तब वहाँ कार्यक्रम-अधिकारी थे। पूछा, “कहाँ ठहरे

हो ?” यों ही चलती भाषामें मेरे मुँहसे निकला, “शर्माजीका घर हमारा तो परमानेष्ट होटल है !”

भ्रुकुटियाँ तनीं, आँखें फटी-फटी, होठ फड़कते और पूरे चेहरेपर नाराजी-क्रोधका खिचाव ही नहीं, कड़े क्रोधका तनाव; यह है मेरे सामने पालीवालजीका चेहरा, पर ऐसा क्यों ? तभी वे कड़के, “शर्माजी आपको अपने रिश्तेदारकी तरह ठहरायें और आप उनके घरको होटल बतायें, वाह भाई साहब !”

लगा कि बहुत सख्त झाँपड़ पड़ा - मुँहपर नहीं मस्तिष्क और मन तक जन्नाटा खिच गया। सहकर सोचा, सोचकर कहा, पालीवालजी सहमत थे कि भूल भावकी नहीं, भाषाकी है, पर हलकी भाषाका प्रयोग क्या साधारण भूल है ? द्रौपदीके एक हलके वाक्यने ही तो महाभारतका शिलान्यास किया था।

पालीवालजीके इस अनुभवकी छायामें विधानका चौथा नियम यह बनता है कि जब आप किसीके घर ठहरें तो इस बातका ध्यान रखें कि आप वहाँ रहते या वहाँसे आनेके बाद एक भी बात ऐसी न कहें, जो हलकी हो, परिवारकी मर्यादाके विरुद्ध हो।

बस यही है किसीके घर ठहरनेका विधान और स्वतन्त्र देशके नागरिकका उत्तरदायित्व है कि वह इसके मानकी रक्षा करे, न कर सके, तो फिर सराय-धर्मशालामें ठहरे या होटलमें, पर भूलकर भी किसी मित्र-सम्बन्धीके घरमें पैर न रखे।

आये-दिनके मेहमान !

॥ दार्शनिक लोग बहस करते हैं कि यह जीवन, यह जिन्दगी क्या है ? यह कैसे हुआ, कैसे चला, क्यों चले और जब चल-चलाकर समाप्त हो, तो क्या रहे ? ये बड़ी ऊँची बातें हैं और जाने कबसे यों ही चल रही हैं और शायद चलती रहेंगी, पर एक साधारण आदमीके लिए तो यह जीवन बस एक जीवन है और उसकी चाह है कि यह सुखसे चले ।

है न यही बात ? हाँ यही बात है, पर भाई, बात तो ठीक है, हरेककी चाह है कि यह जीवन सुखसे चले, पर चले कैसे ? जीवनका ढाँचा कुछ ऐसा उलटा-सीधा बँध गया है कि उसके दरवाजे कोई-न-कोई मुसीबत खड़ी ही रहती है । जीवनको अगर गंगाकी धार मान लें तो मुसीबत उसकी लहर है और सारी लहरें अगर सो भी जायें, तो एक लहर ऐसी है, जो तब भी उभरी रहेगी और जीवनकी धाराको शान्त न होने देगी ।

जो ! कौन-सी लहर ? सवाल ठीक है, ठीक जगह भी है और उत्तर भी उसका देना ही होगा । वह लहर है ये आये-दिनके मेहमान । हमारी शहरी जिन्दगीका तो यह बवाल ही उठे हैं और हरेक घर अब इस मुसीबत-से ऊँचा हुआ है ।

“वाह साहब, यह आपने क्या कहा ! हमारे देशमें तो अतिथिसत्कार यानी मेहमानवाजीको एक यज्ञ यानी धार्मिक कार्य माना गया है और शास्त्रोंमें कहा गया है कि उससे संसारमें समृद्धि और स्वर्गमें सुख मिलता है । आप उसे जिन्दगीका बवाल ही बता रहे हैं, यह अजीब बात है ।”

आपकी बात सोलह आने ठीक है, पर सवा सोलह आने गलत भी है । भूलका चक्कर यह है कि आप अतिथि और मेहमानको एक समझकर

बढ़ रहे हैं और असलमें ये दोनों दो अलग-अलग चीजें हैं। अतिथि है प्राचीन कालकी वाटिकाका फूल और मेहमान है इस जमानेका एक काँटा, दोनोंको एक कैसे किया जा सकता है ?

प्राचीनकालके अतिथिकी तसवीर यह है :

एक गाँव, उसमें एक गृहस्थी। खाना तैयार, खानेका समय सामने, अब गृहस्थीका एक मनुष्य अपने दरवाजेपर खड़ा है और उसकी आँखें किसीको तलाश कर रही हैं।

न रेलें, न मोटरें, आम तोरपर पैदल-यात्राका रिवाज। एक यात्री जाने कहाँसे आ रहा, जाने कहाँको जा रहा। भोजनका समय, भूख उसे गुदगुदा रही और जा रहा उसी घरके सामनेसे।

दोनों एक दूसरेको देखते हैं। गृहस्थी कहता है, पधारिए महाराज, भोजन तैयार है। यात्री प्रसन्नतासे न्योता स्वीकार करता है। दोनों घरमें जाते हैं, भोजनके बाद यात्री अपनी राहपर लगता है, गृहस्थी अपने काम। दोनोंके मनमें नये परिचयका सुख है। यह प्राचीन कालका अतिथि है।

नये जमानेके मेहमानका फोटो भी यहीं है :

प्रातःकाल पाँच बजे उठकर श्रीमतीजीने घरकी सफ़ाई की, चूल्हा जलाया। बाबूजी उठे, बच्चे जागे, निपटे, नहाये-धोये, चाय पी। बच्चे पढ़ने लगे। बाबूजी दफ़्तरका काम करने लगे। साढ़े नौ बजे खाना तैयार है। बाबूजी भोजन कर दफ़्तर गये, बच्चे स्कूल। श्रीमतीजीने भोजन किया, चौके-चूल्हेसे निपटी और ज़रा साँस लेनेको ही थी कि आवाज़ आयी, “बाबूजी ! अरे भाई बाबूजी हैं ?” यह लीजिए साढ़े बारह बजेकी गाड़ी-से एक मेहमान आये हैं। श्रीमतीजीने छोटी नन्हींसे खानेको पुछवाया और मेहमान साहबने स्वीकृति दी। अब श्रीमतीजी फिर चौकेमें हैं और बना रही हैं खाना और मेहमान साहब जब खाना खाकर निपटे, तो घड़ीने दो बजाये।

पाँच और दो ! यानी श्रीमतीजीको काममें जुटे-जुटे नौ घण्टे बोट चुके, पर शाम सिरपर है। लीजिए शामकी बात छोड़िए, बच्चे स्कूलसे आ गये और वे आ रहे हैं दफ़्तरसे बाबूजी भी। अब चाय चढ़ गयी और उसके बाद ही शामका खाना और तब रातका दूध। दस बजे श्रीमतीजी पलंगपर जा सकें तो सौभाग्य ही समझिए। अब जोड़िए घण्टे, सुबह पाँच बजेसे रातके दस—यानी पूरे सत्रह घण्टे ! भारतके क़ैदी भी शामको छह बजे छुट्टी पा जाते हैं, पर श्रीमतीजी हैं कि उनका कोई समय नहीं और उनका कोई प्रोग्राम नहीं।

यह नये ज़मानेका मेहमान है और यह भी उसका एक ही फोटो है, फोटो भी बस्ट ही, यानी पूरा नहीं। इसके कुछ रूप और देखिए, शामका खाना तैयार है, पर मेहमान साहब कह रहे हैं, “चाय ज़रा भारी हो गयी थी, खाना तो मैं सिनेमासे लौटकर खाऊँगा।”

क्या समझे ? यानी श्रीमतीजी दस बजे तक चूल्हा गरम रखें। श्रीमतीजी न हुईं, होटलका ब्वाँय हुई !

एक परिवार है जिसके अध्यक्ष एक प्रमुख वकील हैं। पति-पत्नी दोनों एम० ए० पास। जनवरीकी सड़ियाँ, रातके दस बजे। एक मेहमान पधारे हैं। वकील साहब सो गये हैं। नौकरने मेहमानघर खोल दिया और बिस्तर बिछा दिया। मेहमान साहब देहलीसे आ रहे हैं और खाना चाहते हैं, पर खाना अब कहाँ है ? मेहमान साहबके साथ नौकर है। वे कह रहे हैं, गोदामसे आटा बगैरह निकाल दो, यह बना लेगा, पर ताली तो बहूजीके पास है और नौकरको हुक्म है कि उन्हें जगाया न जाये। मेहमान साहब गरम हो रहे हैं, कुलमुला रहे हैं, बड़बड़ा रहे हैं और वकील साहबकी नीचताका मन-ही-मन बखान कर रहे हैं, पर पूछे कोई उनसे कि रास्तेके हर स्टेशनपर जब खाना मिलता है, तो आप क्यों भूख-हडताल किये रहे और आप अगर बाज़ारका खाना पसन्द नहीं करते तो जो नौकर यहाँ खाना बनानेको तैयार है, वह घरसे ही दस पूरियाँ क्यों न लेकर चला ?

यह सत्राल मेहमान साहबसे पूछा जा सकता है, क्योंकि वे अभी सोये नहीं हैं। भूख और गुस्सा दोनोंको नींदसे चिढ़ है। वे सोच रहे हैं, मैं क्या वकील साहबके घर रोज-रोज आता हूँ जो वे जाग नहीं सकते, पर उन्हें कौन बताये कि जी, ठीक है, आप यहाँ रोज-रोज नहीं आते, पर बेचारे वकील साहब क्या करें; उनके यहाँ तो रोज ही कोई-न-कोई आता है !

हरेक परिवारका एक क्रम है, एक दिनचर्या है, एक सिस्टम है। मेहमानके आनेका मतलब है, उस क्रम, दिनचर्या और उस सिस्टमका टूट जाना। उस दिन बच्चे समयपर पढ़ने नहीं बैठते, बाबूजी दफ्तरका काम नहीं कर सकते, श्रीमतीजी कहीं आ-जा नहीं सकतीं, नौकर लेट नहीं सकते। वही एक दलील है, जो मेहमानके रोम-रोममें छापी रहती है, “अरे भाई, हम क्या यहाँ रोज-रोज आते हैं। तुम हमारे लिए एक दिनका समय भी नहीं दे सकते ?” ठीक है, पर आज आप हैं और कल जो आपके भतीजे-भानजोंमें-से कोई दूसरा आयेगा, वह क्या हमारे घर रोज-रोज आता है ?

मान लीजिए एक पत्रकार हैं — किसी पत्रके सम्पादक। उन्होंने अपनी भाषाके प्रतिष्ठित लेखकोंकी पुस्तकोंका संग्रह कर रखा है। अब एक मेहमान आये हैं। पहला काम है यह कि वे उन सब पुस्तकोंपर नज़र डालेंगे और दूसरा यह कि संग्रहकी प्रशंसा करेंगे। खाने-बानेसे निपटनेके बाद वे पुस्तकोंके पास जायेंगे और जैनेन्द्रकी पुस्तकोंमें यशपालकी पुस्तक रख देंगे और प्रेमचन्दकी पुस्तकोंमें इलाचन्द्र जोशीकी। उनके जानेके बाद जरूरत पड़नेपर जब पत्रकार देखेंगे तो पता चलेगा कि रामकुमार वर्माकी ‘विभूति’ और डॉ० ब्रजमोहन गुप्तकी ‘वियोग रागिनी’ साफ़ है। पत्रकार-जीको अपने लेखके लिए इनकी जरूरत है, पर हुआ करे ? हमारे मेहमान-जीके साथ चली गयी है। आपकी सब शिकायतोंका एक ही उत्तर है — “सैकड़ों पुस्तकें भरी पड़ी हैं, हम दो ले आये, तो जान निकल गयी !”

ये आजके युगके मेहमानकी कुछ तसवीरें हैं। इस तरहकी सौ-सवासी तसवीरें इकट्ठी कर लेना आसान काम है। अब बताइए, पुराने जमानेके अतिथि और नये जमानेके मेहमानमें क्या तुलना? अतिथिका आगमन, जीवनका एक यज्ञ था, तो मेहमानका आना एक मुसीबत है!

“आप तो ये सब बातें रोज़-रोज़ आनेवाले फालतू मेहमानोंके बारेमें कह रहे हैं। आखिर अपने सगे-सम्बन्धी तो प्राचीन कालमें भी आते थे और अब भी आते हैं। उनका आना हमारी घरेलू जिन्दगीकी न्यामत है। उनके बारेमें तो इस तरहकी बातें नहीं कही जा सकतीं?”

जी, आपका यह कहना ठीक है और मानना ही पड़ेगा कि ऐसे लोग भी घरतीपर हैं, जिनका अपने घर आना एक सौभाग्यकी बात समझी जा सकती है, पर सचाई यहीं तक नहीं है। उस तक पहुँचनेके लिए यह जानना भी जरूरी होगा कि जो सगे-सम्बन्धी हमारे यहाँ आज आये हैं, क्या उनके स्वभावमें वे बातें नहीं हैं, जिनकी अभी चर्चा हो रही थी और वे इस घरको भी अपना ही घर समझकर चल रहे हैं? ऐसा हो, तो ठीक है और ऐसा न हो, तो यह मुसीबतसे बढ़कर महा मुसीबत है, क्योंकि इन्हें कुछ कहा भी नहीं जा सकता।

इस बातको हम छोड़ दें और सिर्फ सिद्धान्तकी ही बात करें, तो एक नयी भेद-रेखा हमें दिखायी देती है। पहले जमानेमें जब कोई सगा-सम्बन्धी आता था, तो अपने यहाँकी सौगात लाता था। इस तरह सहारनपुरके आम-लोकाट, सण्डीलेके लड्डू, मथुराका खुरचनपेड़ा, आगरेका पेठा, दिल्लीकी नमकीन, लखनऊका सफ़ेदा, बनारसका लँगड़ा, मुँगेर-देहरादूनकी लीचियाँ आते ही बच्चोंको मिलती थीं और गृहिणी उनमें-से अपने पड़ों-सियोंको भागीदार बनाकर सन्तोषका सुख पाती थी। चलते समय बच्चोंको रुपया-दो रुपया भेंटमें देना भी अतिथिके शिष्टाचारका आवश्यक अंग था। इस तरह बच्चोंको सौगात मिलती और अतिथिके पधारनेसे गृहस्थीके वजटपर जो प्रभाव पड़ता, उसका सन्तुलन भी बहुत कुछ हो जाता, पर

आजकल कोई चीज बाँधकर चलना बाबूपनको पसन्द नहीं है और आपसमें लेन-देनका व्यवहार एक हलकी चीज समझी जाती है ।

हमारी सभ्यतामें जीवनकी दुकानदारीको भी एक सौन्दर्य दे दिया गया है । हम होटलमें ठहरते हैं, बिल चुकाते हैं, यह जीवनकी दुकानदारी है । हमारे घर एक मेहमान आते हैं, उनका व्यवहार ऐसा रहता है कि साधारण घरपर भी उसका कोई बोझ नहीं पड़ता, यह जीवनका सौन्दर्य है । हमारे घर पश्चिमी सभ्यताकी दुकानदारी तक पहुँचे नहीं हैं और जीवनका भारतीय सौन्दर्य नष्ट हो गया है । नतीजा साफ़ है कि आज मेहमान एक मुसीबत है ।

यह मुसीबत कभी-कभी ऐसी गन्दगी भी अपने पीछे छोड़ जाती है कि गृहस्थीकी पवित्रताका ऐसा अंश उसमें नष्ट हो जाता है, जो फिर किसी भी मूल्य और मेहनतपर पूरा नहीं हो पाता ।

“तो क्या कोई ऐसी कसौटी नहीं हो सकती, जिसे हमारे मेहमान अपने सामने रखें तो वे हमारे गृहस्थके लिए एक मुसीबत न होकर, एक न्यामत हो जायें ?”

प्रश्न बहुत उपयोगी है और उसका उत्तर दिया जायेगा । हाँ, एक कसौटी है और उसे संक्षेपमें हम यों रख सकते हैं, “मैं मेहमान हूँ । क्या मेरे मेहमान होनेसे इस गृहस्थीकी पवित्रता, नियमितता और प्रसन्नतामें कोई कमी आ रही है ?”

इस प्रश्नका उत्तर हाँ है, तो मेहमान एक मुसीबत है और सिर्फ़ एक मुसीबत ही है ।

झाड़ू स्वयं लगाइए

“अच्छा तो तुम झाड़ू लगाकर इस कमरेको साफ़ कर दो।”

अमेरिकाके हैम्पटन विद्यालयकी मुख्याध्यापिका यह कहकर अपनी क्लासमें पढ़ाने चली गयी और पाँच सौ मील दूरसे भूखा-प्यासा और मृत्युसे खेलकर आया हुआ एक हल्की नवयुवक कमरेको साफ़ करने लगा।

उसने कमरेको तीन बार झाड़ूसे साफ़ किया, मेज़पर पड़ी हुई किताबें अपने-अपने नम्बरपर लगायीं, कुरसियोंको कपड़ेसे रगड़ा और सब सामान यथास्थान सजा दिया।

मुख्याध्यापिकाने लौटकर देखा, सफ़ाईसे कमरा जगमगा रहा था। प्रसन्न होकर उसने कहा, “सचमुच तुम इस विद्यालयमें भरती होने लायक हो।”

नवयुवकका रोम-रोम खिल उठा, उसे उसकी मुँह-माँगी मुराद मिल गयी।

यह नवयुवक अमेरिकाका भावी भाग्य-विधाता बुकर टी० वाशिंगटन था।

सचमुच झाड़ू लगाना एक कला है और कलाका सर्व-सम्मत स्वरूप सत्यम् शिवम् सुन्दरम् है।

झाड़ू सत्य तो है ही, रोगोंके कीटाणुओंका नाश करनेके कारण शिव भी है और सुन्दरतामें तो उसकी सन्देह ही नहीं किया जा सकता; सनातन धर्मकी भाषामें झाड़ू स्वच्छताकी अधिष्ठात्री है।

आम तौरपर यह समझा जाता है कि झाड़ू लगाना बहुत सरल है और इसका उपयोग सीखनेके लिए किसी परिश्रमकी क़तई आवश्यकता

नहीं पड़ती, पर यह भ्रम है। झाड़ू लगानेकी कलामें भी उतनी ही साधना-की आवश्यकता है, जितनी किसी अन्य कलाकी सिद्धिमें।

मैंने १९१८ में अपनी मरणासन्न माँसे झाड़ूका चार्ज लिया था और १९२६ में लगातार सात-आठ वर्षोंकी साधनाके बाद मुझे यह सीभाग्य प्राप्त हुआ था कि मैं झाड़ू-मास्टर कहला सकूँ। इस प्रकार झाड़ू-मास्टरी और इष्टेन्ससे एम० ए० तकका कोर्स बराबर बैठता है ! बहुत सम्भव है कि कुछ पाठक मुझे कूद-मग़ाज समझें, पर मेरा विश्वास है कि भरतीय यूनिवर्सिटियोंके ग्रेजुएट झाड़ूकी परीक्षामें एक फ़ीसदीसे अधिक पास नहीं हो सकते !

१९२० में एक अँगरेज यात्री भारतके एक प्रसिद्ध डाक्टरी कॉलेजका निरीक्षण करने गया। वहाँके उच्च श्रेणीके छात्रोंसे उसने एक प्रश्न पूछा, सफ़ाईका क्या अर्थ है ? प्रश्न देखनेमें बहुत साधारण है, पर उनमें-से एक भी इसका सन्तोष-जनक उत्तर नहीं दे सका।

सभी विद्यार्थियोंने स्वास्थ्य-शास्त्रकी किताबोंसे रटे हुए अध्याय उसे सुनाये, पर वह सिर हिलाता रहा। उसने कॉलेजके प्रोफ़ेसरोंसे भी यही प्रश्न पूछा, पर वे भी अपने शिष्योंसे आगे न बढ़ सके। अन्तमें उसका प्रश्न उसके ही आगे रखा गया। उसने एक वाक्यमें ही कहा — सब वस्तुओंका यथास्थान रहना ही सफ़ाई है।

सम्भव है कि प्रोफ़ेसर इसपर मन-ही-मनमें हँसे हों, पर एक अनुभव-के नाते मैं समझता हूँ कि वह अँगरेज पूरा झाड़ू-शास्त्री था और झाड़ूके तत्त्वका उसने अथसे इति तक अध्ययन कर रखा था।

आम तौरपर कमरे, आँगन या सड़कपर झाड़ू लगा देना ही काफ़ी समझा जाता है, पर यह झाड़ूका केवल एक भाग है।

झाड़ूका अर्थ है सफ़ाई और जिस घरमें छत जालोंसे जड़ी हुई है, कुरसियाँ धूलसे भरी हैं, पर्लंगपर बिस्तर अस्त-व्यस्त पड़ा है, मेजपर हफ़्तोंकी पढ़ी पुस्तकें पड़ी हैं, धोबीके घर जानेवाले कपड़े बिखरे हैं,

आये हुआने कुरसियाँ घेर रखी हैं और बरतन और जूते चारों ओर फैले हैं, उसे साफ़ कौन कहेगा ?

कहनेका मतलब यह है कि झाड़ू लगानेका काम बहुत कठिन है और इसमें वही पास हो सकता है; जिसमें श्रमशीलता, सतर्कता और व्यवस्थापकता बहुत अच्छी मात्रामें हो ।

वैसे तो झाड़ूकी कलापर एक पुस्तक लिखी जा सकती है, पर मैं यहाँ अपने अनुभवके अनुसार कुछ मोटी-मोटी बातें लिखता हूँ ।

झाड़ूके साथ प्रत्येक घरमें टोनका डेढ़ फीट चौड़ा और इतना ही लम्बा टुकड़ा रहना चाहिए । यह कूड़ा उठानेमें बहुत सहायक होता है । नहीं तो प्रायः बचा हुआ कूड़ा झाड़ूके झटकेसे कोनेमें छिपा दिया जाता है ।

झाड़ू कितनी बड़ी हो यह भी एक ध्यान रखनेकी बात है । मेरा अनुभव यह है कि बरामदे या चौक आदि विस्तृत जगहोंके लिए तो लम्बी झाड़ू उपयोगी होती है, पर ऐसे कमरोंके लिए कि जहाँ सामान भरा रहता है, छोटी झाड़ू ठीक है । ऐसे कमरोंमें बड़ी झाड़ू ठीक काम दे ही नहीं सकती, उससे अच्छेसे-अच्छा झाड़ू-शास्त्री भी सन्दूककोंके नीचेके स्थानों, अलमारीके किनारों, छोटे-छोटे ताकों और दरवाजोंके कूड़ेको ठीक तरह नहीं निकाल सकता । छोटी झाड़ू आसानीसे चारों ओर यथेष्ट घूम सकती है ।

झाड़ूकी मुटाई झाड़ू लगानेवालेके हाथपर निर्भर है । बालकोंके लिए पतली और बड़ोंके लिए मोटी झाड़ू होनी चाहिए । सिद्धान्त यह है कि झाड़ूकी मुटाई झाड़नेवालेकी मुट्ठीकी बराबर होनी चाहिए, जिससे वह आसानीसे, बिना विशेष जोर लगाये उसे पकड़ सके ।

झाड़ते समय गिरनेवाली सीकोंको फ़ौरन उसीमें लगा देना चाहिए, पर टूटी हुई सीकोंको भी उसके ही अन्दर ठूसनेका अर्थ है झाड़ूके सौन्दर्य और स्वास्थ्यको खराब करना ।

झाड़नेवालेके पास एक झाड़न भी रहना चाहिए, जिससे साथ-साथ कुरसियाँ, मेज और चित्र साफ़ हो सकें। घरके कोनोंमें मकड़ियाँ छोटे-छोटे घर बना लेती हैं, उन्हें रोज़ साफ़ करते रहना चाहिए।

झाड़नेवालेकी परीक्षा उस समय होती है, जब वह झाड़ते समय कोई छोटी-सी चीज़ पा जाता है; एक बटन या कोई आल्पीन। यदि वह कूड़ेके साथ उसे फेंक देता है, तो वह मूर्ख है। उचित यह है कि उसे उठाकर फ़ोरन किसी ताकमें या कॉनिसपर रख दिया जाये। ये चीज़ें कभी-कभी ऐसे समयपर काम आती हैं कि मनुष्यकी बहुत-सी दिक्कतें हल हो जाती हैं।

झाड़ू खड़े होकर देना ठीक है या बैठकर, इस प्रश्नका उत्तर स्थानकी सीमापर निर्भर है, बड़े स्थानमें खड़े होकर और छोटेमें बैठकर ठीक सफ़ाई होती है, पर ज्यादातर यह झाड़नेवालेके अभ्यासपर निर्भर है।

जिस घरमें आदमी बैठे हों, वहाँ झाड़ू लगाना बहुत सावधानीका काम है। मकान साफ़ हो जाये और धूल न उड़े, तो झाड़नेवाला होशियार समझा जायेगा। चतुर झाड़नेवालेमें बहुत जल्दी-बाजी न होनी चाहिए, नहीं तो वह कुछ-न-कुछ तोड़ता-फोड़ता रहेगा। उसकी स्मृति इतनी तो होनी ही चाहिए कि चीज़ जहाँसे उठाये, वहीं फ़िरसे रख दे।

कमरेमें झाड़ू लगाना किधरसे आरम्भ किया जाये, यह भी ध्यान रखनेकी बात है। मेरा अनुभव है कि दरवाज़ेमें घुसते ही सामनेवाले दाहिने हाथके कोनेसे आरम्भ कर भीतर चारों ओर साफ़ करके कूड़ा बाहर निकाला जाये। सिद्धान्त यह है कि एक स्थानपर दो बार न आना पड़े और कूड़ेपर-से झाड़नेवालेको न उतरना पड़े।

झाड़ू कई प्रकारकी होती हैं। मूँज, भाभड़, सीक और बाँसकी खास तौरपर प्रचलित हैं। छोटे स्थानोंमें मूँज, भाभड़की, फ़र्श या कालीन साफ़ करनेमें बाँसकी झाड़ू काममें लायी जाती है। खजूर, तिलन और शहतूत आदिकी झाड़ू भी बनती हैं, पर उनका नगरोंमें कम प्रचार है। जैन साधु तो सूतकी झाड़ू ही इस्तेमाल करते हैं।

झाड़ू बांधनेका डोरा मजबूत और साफ़ रहना चाहिए । बँधाई ठीक रहनेसे झाड़ूकी आयु ठीक रहती है और सीकें कम टूटती हैं । सीकें या बाँसकी झाड़ू हो तो थोड़ी-थोड़ी देरमें उसे ठोककर सम करते रहना चाहिए ।

झाड़ू देखने और व्यवहारमें बाहरी चीज़ है, पर वास्तवमें मनुष्यके अन्तःकरणसे इसका गहरा सम्बन्ध है । जिसमें सौन्दर्यकी अभिरुचि नहीं, व्यवस्था और नियमनकी भावना नहीं, वह क्या खाक झाड़ू लगायेगा ? एक शब्दमें झाड़ू-कलाकी आत्मा रुचि — टेस्ट — में निवास करती है । हम यही भूल गये हैं कि अपने हाथकी झाड़ू घरको सफ़ाई — स्वच्छता देती है, तो हलके व्यायामके रूपमें हमारा स्वास्थ्य भी सुधारती है ।

दुर्भाग्यवश देहातोंकी रुचि दीर्घ दारिद्र्यने नष्ट कर डाली और शहरोंकी आराम-तलबी और नौकरबाज़ीने । आज हम यह भी भूल गये हैं कि अपने स्थानको खुद साफ़ करनेमें क्या रस है — इससे मनको कितनी और कैसी तृप्ति मिलती है ? फलतः आज हमारे यहाँसे झाड़ूका सम्मान उठ गया और इसीका यह फ़ल है कि रोग हमारे मेहमान बन गये हैं ।

मेरा विश्वास है कि भारतके नर-नारी झाड़ूके महत्त्वको समझ लें, तो उन्हें भारतकी बीमारियों, सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों एवं दासताके अवशेषोंपर झाड़ू फेरनेमें भी देर न लगे और गान्धीजीके स्वप्नों-का भारत शीघ्र ही हमारे सामने आ जाये !

घरका सामान बाहर फेंकिरा !

एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह ।

मैं देख रहा हूँ कि श्रृंगार-मेजपर आँवलेके बड़िया तेलकी एक खुली शीशी रखी है और उसी शीशीके पाँच बन्द डिब्बे ! मनमें आया — इन लोगोंको परिग्रहकी कैसी आदत हो गयी है । कोठीके बाहर दूकान है, फिर भी छह शीशियाँ एक साथ खरीदी गयी हैं । एक काम आ रही है, पाँच बन्द पड़ी हैं ।

देवीजीसे पूछा, “यह एक शीशी कितने दिन चलती है आपके यहाँ ?”

बोलों, “बाबूजी तो ‘जुलफे बंगाल’ ही लगाते हैं, मुझे यह एक महीने काम दे जाती है ।”

मैं सोच तो रहा ही था, उलझ भी गया । एक शीशी एक महीने चलती है, तो छह शीशियाँ चलेंगी छह महीने । अजीब बात है कि लोग छह दिनके लिए गेहूँ नहीं खरीद पाते, ये छह महीनेके लिए तेलकी शीशियाँ खरीदती हैं ।

न रहा गया, तो ज़रा घुमाकर पूछा, “छह महीनेमें यह तेल कुछ उतर नहीं जाता क्या ?”

वे मेरा प्रश्न नहीं समझीं और समझती-सी बोलों, “छह महीने ! छह महीनेका मुझे क्या पता — मुझे क्या आपने कोई तेल-परीक्षक समझा है ?”

“छह महीनेका आपको क्या पता; पर छह महीनेका तेल तो आपने खरीद कर रख छोड़ा है !” मैंने कहा ।

आश्चर्यसे बोलों, “मैंने छह महीनेका तेल रख छोड़ा है ! कहाँ ?”

“एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह ।” मैंने उस शीशीके साथ वे पाँच डिब्बे भी गिन दिये, तो वे ठहाकेसे हँसीं और दोहरी होकर बोलीं, “अजी भाई साहब, ये तो खाली डिब्बे हैं !”

“खाली डिब्बे ! तो खाली डिब्बे क्यों रख रखे हैं आपने ?” मैंने पूछा, तो बोलीं, “शीशियाँ आयीं काममें लग गयीं, डिब्बे पड़े हैं !”

“और वे शीशियाँ कहाँ गयीं ?” मैंने पूछा ।

“किसी सम्पादकको अपने घर बुलाना भी एक मुसीबत है ।” वे बोलीं और मुझे पासके कमरेकी ओर ले जाती हुई बोलीं, “लीजिए ये रखी हैं शीशियाँ !”

बिना किवाड़ोंकी एक बड़ी आलमारी और उसमें आमलेके उस तेलकी दस-पन्द्रह शीशियाँ, पर मैं देख रहा हूँ कि वहाँ ये दस-पन्द्रह शीशियाँ ही नहीं हैं, कोई सौ शीशियाँ हैं । छोटी तन्नक-मन्नक-सी भी और स्वामी बोतलानन्द भी । बहुत-सी खाली, बहुत-सी भरी, कुछ अधभरी, कुछमें दस-पाँच टुपक ही !

“यह शीशियोंकी कान्फ़्रेन्स क्यों जोड़ी है आपने यहाँ ?” मैंने पूछा । बोलीं, “यों ही पड़ी है, मैं क्यों जोड़ती कान्फ़्रेन्स !”

“आप इन्हें कबाड़ोको बेच दें, तो कई रुपये मिलें और नौकरके हाथ अस्पताल भिजवा दें, तो पुण्य !” मैंने कहा ।

“मुझसे ये सब झमेले नहीं होते, पड़ी हैं तो बस पड़ी हैं ।” यह उनका उत्तर था ।

मैंने सोचा — यह कैसी मानसिक दरिद्रता है कि घरमें कूड़ा भरा है; तो कोई बात नहीं, पर डिब्बोंका बाहर फेंकना और शीशियाँ उठवा देना एक झमेला है !

एक लालाजी हैं हमारे मित्र । अबसे तीन साल पहले बीमार पड़े थे । पिछले दरवाजेके लिए तब खसकी एक भारी टट्टी बनी थी । वे अच्छे हो

गये, तो खसकी टट्टी बाहर बरामदेमें रख दी गयी। उसमें कई सेर क्या, कई घड़ी खस था। चिड़ियाँ और कबूतर उमका एक-एक तार अपनी चोंच-में भर ले गये और घोंसलोंमें बिछा लिया। अब वह बाँसकी ठठरी वहीं खड़ी है और बस खड़ी है।

उसे देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि यह टट्टीकी ठठरी नहीं, इस परिवार-की मानसिक कंगालीका भी कंकाल है। उसी समय पास-पड़ोसके किसी भले मानुषको यह दे दी गयी होती, तो वह इसे सँभालकर रखता और सँवारकर दो साल काम लेता। खैर, मनुष्यके एक परिवारको इससे लाभ नहीं पहुँचा, तो कोई बात नहीं, पक्षियोंके पचासों परिवारोंको इससे सुख मिला, पर प्रश्न तो यह है कि अब यह अरथी-सी ठठरी यहाँ क्यों विराजमान है ?

अब भी यह इस भवनको साफ़ करनेवाले भंगीके बहुत कामकी चीज़ है। वह इसपर एक पुराना बोरिया मढ़कर इससे ओटेका काम ले सकता है, अपने कच्चे कोठड़ेकी खिड़कीपर इसे लगा, कुत्ते-बिल्लीसे बच सकता है और और कुछ नहीं तो इसे चूल्हेमें फूँक एक दिनकी अपनी रोटियाँ सेंक सकता है, पर नहीं, यह तबतक यहीं खड़ी रहेगी जबतक कि कुदरतके क्रायदे इसकी रस्सियोंके बाँध न गला दें और ये खरपच्चकें पैरोंकी ठोकरोंसे धधर-उधर न बिखर जायें।

उस दिन एक मित्रके यहाँ चाय पीने गया। ज़रूरतके लिए नालीपर जाना पड़ा, तो देखता हूँ कि नालीके परदेकी लम्बी कानसपर छह-सात काँचके गिलास रखे हैं। यहाँ गिलास क्यों ? गौरसे देखा तो एक भी गिलास बिन फूटा नहीं — किसीकी तलीमें छेद, तो किसीके किनारे-पर कचोट !

घरकी मालिकिनसे पूछा, “आप इन फूटे गिलासोंका क्या उपयोग करती हैं ?”

मुझे उन्होंने इस तरह घूरा, जैसे एक विद्वान् किसी मूर्खको घूरता है और फिर सँभलकर कहा, “इनका मैं क्या उपयोग करती ?”

“फिर ये यहाँ क्यों रख रखे हैं ?” नम्रतासे मैंने नया सवाल जड़ा; तो मालिकिन साहिवा शिकंजेमें ! बोलीं, “हैं, हे, वैसे ही पड़े हैं !” फेंकने-की चीजको रख रखा है, तो हैं हैं को छोड़ और क्या कहें !

खाटके टूटे पावे, टूटी कुरसियाँ, तसवीरोंके खाली चौखटे, बेकार डिब्बे, फूटे बरतन, फटे कपड़े, पुराने अखबार, बेकार ट्रंक-सन्दूक-मेजें, टूटी चिकें और जाने क्या-क्या हमारे घरोंमें बेकार भरा रहता है। बहुत-सी चीजें तो ऐसी होती हैं कि उनका नाम और उपयोग भी हम नहीं जानते !

हर कोठी या हवेलीमें एक सजा हुआ बैठकखाना होता है, जिसमें आम तौरपर मेहमानोंसे मुलाकात की जाती है। अपनी हैसियतसे बढ़कर ही हर आदमी इसे सजाता है, पर यह सजावट आम तौरपर बेवकूफियोंकी नुमायश होती है।

एक पुराने रईस हैं। उनके पिता कभी दिल्ली दरबारसे पंचम जार्ज और उनकी महारानीका एक बड़ा फोटो खरीद कर लाये थे। वह अब भी लगा है, पर बेटाजानने उनके पास ही पं० जवाहरलाल नेहरू और उनकी पत्नीका भी एक चित्र लगा दिया है।

निचले हिस्सेमें बापके लगाये पेरिसकी अप्सराओंके नंगे-से चित्र हैं और बेटेके जड़े सुभाषबाबू और सरदार पटेलके चित्र भी !

फरनीचरमें बापका खरीदा पुराने ढर्रेका विशाल सोफ़ा भी है और बेटेका लाया नया सैट भी। बापके खरीदे कागज़के फूल, जिनके रंग ही नहीं कागज़ भी उड़ गये हैं, अभीतक रखे हैं। शेरकी एक खाल भी दीवारपर टंगी है, उसके बाल उड़ गये हैं और शेरका मुँह अपने बने हुए दाँत और जीभ, दोनों खो चुका है।

जिन बैठकखानोंमें पुराने पिताओंका यह प्रभाव नहीं है, वहाँ एक दूसरा रोग है — सामानकी भरमार ! बाबूजी जहाँ जाते हैं, कुछ खरीद लाते हैं, बिना ज़रूरत और उसकी जगह जाने । चीज़ आ जाती है, तो कहीं-न-कहीं घर ही दी जाती है, पर इससे बैठकखाना हमारी सुरुचिका संग्रहालय न होकर, कबाड़ीकी दूकान बन जाता है ।

बहुत वर्ष बीते, मैं एक अँगरेज़ मित्रके यहाँ गया । कोठीपर पहुँचा, तो हलकी बूँदें पड़ रही थीं । जहाँ मैं ताँगेसे उतरा, वहीं बाहर एक खूबसूरत लकड़ीका बुकसेल्फ़ और उसके पास ही कुछ और चीज़ें रखी थीं । मैंने समझा ये भूलसे रह गयी हैं यहाँ ! मिलते ही मैंने मित्रका ध्यान उधर खींचा, तो बोले, “वह सब तो कबाड़ीके लिए है । आज उसके आनेका दिन है, आयेगा, ले जायेगा !”

“पर यह खूबसूरत बुकसेल्फ़ आप कबाड़ीको क्यों दे रहे हैं ?” मैंने पूछा, तो बोले, “मैं पहले जिस कोठीमें था, वहाँ, मेरी मेज़के पासकी जगह भरनेके लिए इसे बनवाया था, पर इस कोठीमें मेज़के पास खुली जगह है, यह कहीं फिट ही नहीं होता । यहाँके लिए दूसरी तरहका — इससे दुगुना बड़ा बनवाया है ।”

हममें-से कोई होता, तो उसे कहीं-न-कहीं ठूस ही रखता, पर यह कोई तरीका नहीं है सजावटका कि चीज़के लिए जगह की जाये; सही तरीका तो यही है कि जगहके लिए चीज़ आये । मेले-ठेलेमें, जहाँ, जब, जो, खूबसूरत-सी चीज़ देखी, खरीद ली, यह कोई तरीका नहीं है । हर चीज़ अपनी जगहपर ही फिट होती है — ठूस-ठाँस हमारी समृद्धिका नहीं, हमारी मानसिक दरिद्रताका ही प्रमाणपत्र है ।

अपने घरकी स्वच्छताके लिए, वहाँका वातावरण सुरुचिपूर्ण रखनेके लिए, एक गाँठ यह बाँध लीजिए कि बिना जगह जाने कभी कोई चीज़ नहीं खरीदेंगे, भले ही वह कितनी भी सुन्दर हो ! आप अपने पलंगपर

संसारके सर्वश्रेष्ठ चित्रोंको सजा लें तो कोई समझदार आपको क्या कहेगा ?

और दूसरी गाँठ यह कि हमारे घरमें जो कुछ फालतू और बेकार है, वह चीज कितनी भी सुन्दर हो, इस रविवारको कबाड़ीके घर चली जायेगी। आपके यहाँ जो फालतू है, वह यदि दूसरोंके यहाँ आवश्यक हो और आप उन्हें वह भेंट कर दें, तो यह और भी सुन्दर होगा !

तो रविवारका यह आवश्यक काम हर रविवारको याद रखिए ।



लैबिल और ठक्कन : हमारे दो दोस्त

“मीना, जा नन्हेकी आँखमें दवा डालकर उसे सुला दे ।”

“कहाँ रखी है दवा ?”

“ऊपरके कमरेमें ‘कानस’ पर रखी है शीशी ।”

मेरे पड़ोसमें एक सज्जन रहते थे । काम करते थे स्वर्णकारका । बहुत अच्छे कारीगर थे । बेचारोंने पीरोंपर चादरें चढ़ायीं, पण्डितोंसे जाप कराये, देवी-देवताओंकी जानें कितनी मनौतियाँ मानीं, तब कहीं उनके घरमे छह लड़कियोंके बाद एक लड़का हुआ । स्वर्णकारोंमें सौन्दर्य होता ही है, पर यह लड़का सुन्दरोंमें भी सुन्दर था । माँने नाम रखा सुन्दर श्याम, पर लाड़में उसे कहते नन्हा ।

वह दस महीनेका हुआ, तो उसकी आँखें उठ आयीं । माँने दूधके फाये रखे, रसौत-फिटकिरीका लेप किया, मिर्च-नमककी डालियाँ और अजवायन चूल्हेमें झोंककर नज़र उतारी, पर नन्हेकी आँखें न खुलीं । तब उसने डाक्टरकी दवा मँगायी । यही दवा नन्हेकी आँखमें डालनेको उसने अपनी बड़ी लड़की मीनासे कहा ।

मीनाने कार्निसपर रखी शीशी उठायी, नन्हेको गोदमें लिटाया और उसकी आँखमें ड्रापरसे तीन-चार बूँदें दवाकी डाल दीं । दवा पड़ते ही नन्हा चिल्ला पड़ा, पर दुखती आँखमे दवा पड़नेपर तो बच्चा रोयेगा ही; मीनाने उसे घुटनोंमें दबोचकर दूसरी आँखमें भी ड्रापर टपका दिया ।

नन्हा तड़प उठा । शीशी उसने वहीं छोड़ी और नन्हेको कन्धसे लगाकर थपथपाना और लोरी गुनगुनाना आरम्भ किया, पर नन्हा चुप न हुआ, तड़पता रहा । रसोईसे मीनाको करारी गालियाँ देती माँ आयी, पर

न नन्हेने दूध लिया, न चुप हुआ। माँने झुनझुना बजाया, चन्दामामाके गीत गाये — पर नन्हा चुप न हुआ, वह रो नहीं — तड़प रहा था।

नन्हेके पिताजी अभी दुकानसे न आये थे। मीनाने मुझे बुलाया। बच्चोंको बहलानेमें मैं भी अच्छा-खासा मास्टर हूँ पर मैं भी फ़ेल रहा। इतनेमें वे भी आ गये, पर हम चारों मिलकर भी नन्हेको चुप न कर सके — शान्ति न दे सके।

मैंने कहा, “आँखोंमें खड़क ज्यादा है, एक बार दवा और डालो, शायद उससे कुछ कम हो।” मीनाने लाकर दवाकी शीशी अपने पिताजी-को दे दी। शीशी लेते ही चौंककर उन्होंने पूछा, “अरी यही डाल दिया क्या, इसकी आँखोंमें?”

“हाँ अम्माने यही डालनेको तो कहा था।” मीनाका यह उत्तर सुनते ही वे रो पड़े, “बस पण्डितजी, मेरा तो नाश हो गया। इसमें तो ज़ेवर घोनेका तेज़ाब था !!”

हम दोनों तड़पते नन्हेको लेकर डाक्टरके पास गये, पर डाक्टर अब क्या करता? आँखें भीतर तक जल गयी थीं — घाव हो गये थे। गुस्सा अन्धा होता है। मीनापर खूब मार पड़ी, पर उस बेचारीका क्या क्रसूर था? जहाँसे माँने कहा, वहींसे उसने शीशी उठायी। उसे क्या पता कि वहाँ और भी कोई शीशी है और किस शीशीमें क्या है? छोटी-सी भूलका कितना भयंकर फल।

देहातके एक वैद्य हैं मेरे मित्र। वे किसी रोगीको देखने पासके गाँवमें जा रहे थे कि उनके छोटे भाईने कहा, “मेरा मुँह बहुत आ रहा है, पानी भी लगता है।” वैद्यजीने कहा, “बीचके तख्तेपर शीशीमें सफ़ेद गोलियाँ रखी हैं। मुँहमें डालकर चूसता रह, ठीक हो जायेगा।”

छोटे भाईने खूब चूसीं सफ़ेद गोलियाँ, पर मुँह तो क्या ठीक होता, कोई घण्टे-भरमें हाथ-पैर ऎँठने लगे, सारी देहमें बिच्छू-से काटने लगे और

आँखें लाल-अंगारा हो गयीं। वैद्यजी लौटे, तो घबराये — छोटे भाईने विष खा लिया था। जिस तख्तेपर मुँह आनेकी गोलियाँ रखी थीं, वहीं विषकी डलियाँ भी। गोलियाँ और डलियाँ, डलियाँ और गोलियाँ, दोनों शब्द समान, सुननेमें ज़रा-सी भूल हुई और दोनों शीशियोंपर लेबिल था नहीं, तो अमृत लेते विष ले लिया।

बड़ी मुसीबत हुई और बड़ी मुश्किलसे लड़केकी जान बची, पर हालत यह हो गयी कि अधमरा। महीनों वह अपाहिज रहा और जब चलने-फिरने लायक हुआ, तब इस्तहान बीत चुका था, तो बेचारेका साल खराब गया। यह भी भूल छोटी-सी थी, पर फल कितना भयंकर हुआ !!

मे एक धनी परिवारमें अतिथि था। शामको वैद्यजीकी दवा खानेके लिए मुझे शहदकी ज़रूरत पड़ी, तो श्रीमतीजीने नौकरसे कहा, “बाबूजीके लिए उत्तम शहद आया था। वह आलमारीमें रखा है। ज़रा निकालना।” नौकरने बहुत खोजा और श्रीमतीजीने बीच-बीचमें उसे शीशीके रूप-रंगकी कई हिदायतें दीं, पर उसे शहद न मिला। वे स्वयं उठीं और नौकरको अन्धा होनेका प्रमाण-पत्र देते हुए एक शीशी उठा लायीं, पर मेरी पुढ़ियामें उन्होंने जो कुछ मिलाया, वह शहद नहीं, कोई डाक्टरी मरहम था। उसे चाटनेके बाद मेरी जो दुर्गति हुई, उबकाइयोंने मुझे हन्दोड़ा, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। क्या भूल, क्या फल !!!

हमारे परिवारोंमें, खासकर शहरोंमें और कुछ हो या न हो, दो-चार शीशियाँ ज़रूर रहती हैं। आँखकी दवा आयी आँख अच्छी हो गयी, पर जो दवा बची, वह किसी ताक-खिड़की-आलमारीमें रखी है। उसके पास ही शीशीमें मिक्सचर है, वहीं कुछ गोलियाँ, कुछ और कुछ और। बड़े घरोंमें तो इसी कामके लिए एक अलग आलमारी होती है, जिसमें दस-बीस हो नहीं, कहीं-कहीं तो सौ-दो-सौ शीशियाँ रहती हैं। किस शीशीमें

क्या है ? किस कामके लिए है, इसका किसीको पता नहीं । जब किसी दवाकी जरूरत पड़ती है, तो हर शीशीको उठाकर दूरबीनकी तरह आँखों-से लगाया जाता है, देखा-परखा जाता है और कुछ पता न लगनेपर फिर वहीं रख दिया जाता है ।

यह सब इसलिए कि हमने शीशियोंपर लेबिल लगानेकी आदत नहीं डाली, लेबिलका महत्त्व नहीं समझा । नहीं समझा कोई बात नहीं, पर अब समझ लीजिए और उस मासूम बच्चे सुन्दर श्यामकी फूटी आँखों एवं वैद्यजीके छोटे भाईकी परेशानियोंपर ध्यान देकर गाँठ बाँध लीजिए कि घरकी हर शीशीपर एक लेबिल हो, जिसपर दवाका नाम, रोगका नाम और आनेकी तारीख रहे । घरमें गोंद-लेही न हो, तो लेबिलको तागेमें बाँध दीजिए और याद रखिए कि बिना लेबिलकी शीशी साँपका बच्चा है ।

साँपका बच्चा ! कहाँ साँप, कहाँ केतली ? रातमें घूमता-फिरता एक साँप रसोईमें आया और चाय पकानेकी केतलीमें कुण्डली मारकर बैठ गया । केतली खुली हुई थी । सुबह अँधेरे गृहिणी उठी और केतलीमें थोड़ा-सा पानी डाल, ढक्कन ढँक, अँगीठीपर रख काममें लग गयी । थोड़ी देरमें उसने तीन कप चाय बनायी और अपने पति-पुत्रके साथ बैठकर पी ली । कोई एक घण्टेमें तीनों मर गये । बादमें जब केतलीमें मरा-उबला साँप निकला, तो पड़ोसियोंने तीनोंकी अकस्मात् मृत्युका रहस्य जाना ।

मुखियाजीका दामाद विवाहके बाद पहली बार आया तो घर पड़ोसमें खूब खातिरें उड़ीं । रातमें सालीजी दूधका मलाईदार गिलास लेकर आयीं तो जीजाजीका पेट फूला, बहुत आग्रह हुआ, तो तय हुआ कि दूध रख दिया जाये, कुछ देर बाद वे स्वयं पी लेंगे ।

सालीजी दूधका गिलास खिड़कीपर रख चली गयीं और जीजाजी सो गये । रातमें आँख खुली, तो दूधका ध्यान आया । निंदियाये हाथों गिलास

उठाया और घूँट भरी, तो मुँहमें कोई चीज । समझा मलाईकी मोटी पपड़ी है और उन्होंने उसे गलेकी ओर धकेला, पर वह कैसी मलाई कि गलेमें दनादन सुई भोंक रही है । और सुई भी ज़हरीली कि आग-ही-आग !

घबराकर दूध थूका और लालटेनसे देखा, तो मोटा लाल ततैया — हायरे मरा; मुँहसे चीख निकली, तो घर-भर दौड़ा पर घरके लोग बाहर और आग गलेमें । फिर भी जो जिसने बताया, किया, पर गला सूजनेसे साँस रुक गया, सुबह होनेसे पहले ही जीवन समाप्त हो गया !

दुकानदारने पूरी तरह दुकान खोली भी न थी कि ग्राहक आ गये — बनाओ दहीकी लस्सी । दुकानदारने नया कुण्डा बाहर निकाला और अपने बेटेसे लस्सी बनानेको कह, काममें लग गया । ग्राहक दो थे, पर लस्सी एकने पी, दूसरेने पासके ठेलेपर चाय ली । दोनों एक रिक्शामें बैठकर गये, पर घर पहुँचते-पहुँचते लस्सी पीनेवालेकी हालत खराब ।

साथी उसे तुरन्त अस्पताल ले गया, तो डाक्टरने कहा, “इसे ज़हर दिया गया है ।” पुलिसको फोन हुआ, हाल-चाल पूछ पुलिस लस्सीवालेकी दुकानपर पहुँची । दुकानदारने कुण्डा दिखाया और उसमें-से दही ले, एक गिलास लस्सी बना अपने बेटेको पिला दी — “लीजिए दारोगाजी, देख लीजिए कि लस्सीमे क्या खराबी है, उनके आनेपर तो मैंने कुण्डा बाहर ही निकाला था ।”

लस्सी पीते ही दुकानदारका लड़का लोट-पोट होने लगा, मरा-मरा ! पुलिस उसे और दहीके कुण्डेको अस्पताल ले गयी, इलाज हुआ, पर दोनों मर गये । बादमे पता चला कि कुण्डेमें छिपकली थी और दोनोंकी मृत्यु उसके विषसे हुई थी ।

इन मृत्युओंके कारण भले ही भिन्न-भिन्न हों, मूल कारण एक ही है— डक्कन । हमने हर चीज़को ढककर रखनेकी आदत नहीं डाली, डक्कनका महत्व नहीं समझा । नहीं समझा, कोई बात नहीं, पर अब समझ लीजिए

और उस शान्त परिवार, होनहार दामाद और निर्दोष युवकोंके दुःखद नाशपर ध्यान देकर गाँठ बाँध लीजिए कि घरकी हर चीज़को ढक्कनसे ढककर रखेंगे ।

लेबिल और ढक्कन : हमारे दो दोस्त, हम इनकी उपेक्षा न करें ।
बिना लेबिलकी शीशी और खुला बरतन हमारे दुश्मन; हम इनसे सदा सावधान रहें ।



आनन्दका क्षण न खो !

एशियाके एक प्रसिद्ध जीवन-शास्त्रीका कहना है कि ज़िन्दगी संघर्षसे भरी हुई है। एकके बाद एक खींच-तान लगी ही रहती है और चैन नहीं मिल पाती, इसलिए जीवनमें उन क्षणोंकी बहुत कीमत है, जो जीवनको गुदगुदा दें और खींच-तानकी तेज़ीको भुला दें।

इस जीवन-शास्त्रीने लोगोंको एक बड़ा दिलचस्प मशवरा दिया है कि जब तुम अपने किसी मित्र-दोस्तसे बात करने बैठो, तो घड़ीका मुँह दीवाल की तरफ़ कर दो।

जब उनसे पूछा गया कि बात-चीतका और घड़ीका क्या सम्बन्ध ? तो उत्तर मिला कि वह कम्बख्त याद दिलाती रहती है कि इतनी देर हो गयी — इतनी देर हो गयी और इस तरह आनन्दका वह क्षण खण्डित हो जाता है, जो मित्रकी बात-चीतसे मिलता है।

इसी विद्वान्के जीवनका एक संस्मरण बहुत मजेदार है। उनके देशके राष्ट्रपतिने अपने देशमें शिक्षाके प्रचारपर विचार करनेके लिए एक विदेशी विद्वान्को बुलाया। निश्चय हुआ कि राष्ट्रपतिजी चार बजे शामको उनसे बातें करें और उस बात-चीतमें ये महाशय भी उपस्थित रहें, जो घड़ीका मुँह दीवालकी तरफ़ करनेका मशवरा देते हैं। इसकी सूचना इन्हें दे दी गयी और इनसे चार बजे आनेकी स्वीकृति ले ली गयी।

ठीक चार बजे वे विदेशी विद्वान् राष्ट्रपति-भवन पहुँच गये, और राष्ट्रपति तो वहाँ थे ही, पर ये तीसरे महाशय कहाँ हैं ? सवा चार बज गये और चाय आ गयी, पर वे नहीं आये। लो ये बज गये साढ़े चार और तब भी वे लापता। राष्ट्रपतिका सेक्रेटरी उनके घर गया, तो पता चला कि वे तो तीन बजे ही राष्ट्रपति-भवन चले गये थे।

सेक्रेटरी जब उनके घरसे लौट रहा था, तो वे बाज़ारमें उसे मिले । वे बाज़ारमें क्या कर रहे थे ? राष्ट्रपति-भवनमें एक विदेशी विद्वान्से सलाह करनेके मुकाबले वह कौन-सा ज़रूरी काम था, जिसे वे बाज़ारमें कर रहे थे ।

“जी ? क्या देख रहे थे वे वहाँ बाज़ारमें ?”

जो कुछ नहीं और क्या भी कुछ नहीं । न भौंचक होनेकी ज़रूरत है, न विस्मय-विमुग्ध । बात एकदम साफ़ है कि वे बाज़ारमें कबूतरबाज़ीका मैच देख रहे थे ।

आपका जो चाहे, तो आप नाक-भों सिकोड़ सकते हैं, उनके नामपर कुछ सकते हैं । राष्ट्रपतिने भी कबूतर देखनेकी बात सुनकर यही किया था, पर एक बात पहले ही बता दूँ आपको कि तब आपका भी वही हाल होगा, जो उनका उत्तर सुनकर राष्ट्रपतिका हुआ था । तो सुन लीजिए वह उत्तर :

राष्ट्रपतिने अपने देशकी भाषामें जब उनसे कहा कि क्या कबूतरोंका मैच देखना इस राष्ट्रीय कामसे ज़्यादा ज़रूरी था ? तो वे बोले, “यह ज़रूरी और बेज़रूरीका या बढ़िया-घटियाका सवाल नहीं है, यह तो आनन्दका प्रश्न है । यह काम बहुत ज़रूरी है, मैं यह बात मानता हूँ, पर अचानक जीवनमें आनन्दका गुदगुदानेवाला जो क्षण आ गया था, मैं भला उसको उपेक्षा कैसे कर सकता था राष्ट्रपति महोदय ।”

सुनकर राष्ट्रपतिको हँसी आ गयी । आप भी अब हँस सकते हैं, पर इस विद्वान्की इस बातसे इनकार नहीं कर सकते कि संघर्षों और खींचा-तानियोंसे भरी घड़ियोंमें जीवनको गुदगुदानेवाले क्षणोंका बहुत महत्त्व है और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते ।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुरके चप्पलकी कील उखड़ी हुई थी । समयकी बात, उसपर उनका ध्यान नहीं गया और वे उसे ही पहने हुए एक सभामें

भाषण देने चले गये । कील पैरमें चुभती रही और खून रिसता रहा, पर उनके भाषणका प्रवाह बहता रहा । वे भाषण देकर मंचसे उतरे, तो लोगोंने देखा कि चप्पलमें काफ़ी खून लगा है ।

किसीने कहा, “जब कष्ट हो रहा था, तो आप रुके क्यों नहीं ?”

गुरुदेवने उत्तर दिया, “सब बन्धु भाषण सुनकर आनन्द ले रहे थे और मैं सबको आनन्द परसनेका आनन्द ले रहा था । ऐसे क्षणमें मैं दुःखकी ओर ध्यान देता, तो वह क्षण खण्डित हो जाता ।” वही बात कि जीवनको गुदगुदानेवाले कुछ क्षण भी जीवनमें महत्त्वपूर्ण हैं ।

इन क्षणोंका कोई समय नहीं होता और इन क्षणोंको जन्म देनेका कोई निश्चित तरीका — प्रकार भी नहीं है । समालोचकप्रवर आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल बहुत गम्भीर विद्वान् थे और कविसम्मेलनोंमें अपनी कविता बाँचनेके स्वरमें पढ़ा करते थे, उसे गाते न थे, पर उनके एक मित्र अपनी कविता खूब गाकर पढ़ा करते थे ।

एक कविसम्मेलनमें दोनों साथ गये । जब शुक्लजी अपनी कविता आरम्भ करने लगे, तो उनके मित्र जोरसे बोले, “अब आप असुरकी कविता सुनिए ।” असुरका अर्थ बिना सुरकी भी और असुरका अर्थ राक्षस भी । बड़ी सीधी चोट थी, पर बड़ी सधी हुई चोट थी । शुक्लजी उस चोटको सह गये, तरह दे गये, पर जब वे मित्र कविता पढ़ने खड़े हुए, तो शुक्लजीने खूब जोरदार स्वरमें कहा, “आप लोग असुरकी कविता तो सुन ही चुके, अब समुरकी कविता सुनिए ।”

असुरकी तरह समुरके भी दो अर्थ हैं । पहला सुरसहित और दूसरा स्वसुर — सुसरा, जो एक सम्बन्ध भी, पर एक गाली भी । सारा समाज हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया और उस क्षणने सभीके जीवनको गुदगुदा दिया । इस आनन्दमय क्षणको जन्म देनेका काम बुद्धिमत्तापूर्ण ढंगसे प्रयोग किये एक शब्दने ही तो किया, पर यह कोई नियम नहीं है कि बुद्धिमत्तापूर्ण शब्दोंके प्रयोगसे ही ऐसे क्षणका जन्म हो ।

अनेक बार बुद्धिहीन शब्दोंसे भी गुदगुदानेवाले क्षणका जन्म होते देखा गया है ।

प्रसिद्ध अभिनेत्री ग्रेसकेली जनवरीमें माँ बननेवाली है, पत्रोंमें यह समाचार छपा । एक परिवारमें वह समाचार पढ़ा गया और उसपर चर्चा हुई, तो दस वर्षकी एक लड़कीने अपनी माँसे पूछा, “माँ ग्रेसकेलीको यह कैसे पता चला कि जनवरीमें उसके बच्चा होनेवाला है ?”

माँ चिन्तामें पड़ गयी कि बच्चीको क्या जवाब दे, पर तभी उसकी छोटी लड़की, जिसकी उम्र पाँच-छह सालकी हो थी, चटाकसे बोली, “बाह, सब पत्रोंमें यह समाचार छपा है, तो क्या केलीको पढ़ना नहीं आता !!”

कितने अबोध बोल थे ये, पर इन्होंने एक ऐसे क्षणको जन्म दिया, जिसने बहुत दिनों तक उस परिवारके जीवनको गुदगुदाया और जो आज भी हमारे मनको गुदगुदा देता है ।

व्यंग बुरो चीज है, इसीलिए उसे मुहावरेमें व्यंग-बाण कहा गया है, पर वह भी कभी-कभी हमारे जीवनको गुदगुदा देता है — बिल्कुल उसी तरह, जैसे चतुर वैद्य विषसे भी चिकित्साका काम ले लेता है । विश्वविख्यात लेखक एच० जी० वेल्सकी पुस्तक ‘शेप ऑफ़ थिंग्स् टु कम’ पढ़कर एक घमण्डी अभिनेत्रीने उन्हें पत्र लिखा, “पुस्तक मुझे बहुत पसन्द आयी, पर जनाब, यह तो बताइए कि यह आपने किससे लिखवायी थी ?”

इसे पढ़कर वेल्स नाराज़ हो सकते थे और उस चिट्ठीको फाड़कर फेंक सकते थे, पर नहीं, उन्होंने उसका उत्तर दिया और उसमें लिखा, “आपको यह पुस्तक पसन्द आयी, धन्यवाद, पर यह तो बताइए कि यह पुस्तक आपको किसने पढ़कर सुनायी थी ?” मतलब यह कि आपकी रायमें मैं लेखक नहीं हूँ, पर मेरी रायमें तो आप अनपढ़ भी हैं — इस लायक भी नहीं कि कोई पुस्तक बाँच सकें । ज़रा-सी सहिष्णुता और सरसताने नाराज़ीके क्षणको अपने लिए, उनके लिए और सबके लिए जीवनको गुदगुदानेवाला क्षण बना दिया और घमण्डका सिर भी झुका दिया ।

महान् लेखक श्री पद्मसिंह शर्मा और महान् कवि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' साथ-साथ जा रहे थे। शर्माजी पतले-छरहरे, तेज-तर्रार और 'रत्नाकर' जी मोटे, भारी-भरकम और रईस-मिजाज। तो शर्माजीकी चाल यों कि झपटते-से; और 'रत्नाकर' जी की चाल यों कि हिलते-से दिखायी दें।

उबकर शर्माजीने कहा, "रत्नाकरजी, आप भी क्या जान-माशे-जैसी चाल चलते हैं।"

उचित है कि 'रत्नाकर' जी यह सुनकर अपने मुटापेपर झेंप-जायें और यह क्षण उदासीका क्षण बन जाये, पर 'रत्नाकर' जी झेंपे नहीं, उठकर बोले, "मैं कोई डाकका हरकारा तो हूँ नहीं कि जब चलूँ, भागता हुआ ही चलूँ।" इस उत्तरने उस उदासी और झेंपके क्षणको गुदगुदानेवाला क्षण बना दिया और दोनों ही महान् बालकोंकी तरह खिला-खिलाकर हँस पड़े।

गान्धीजीको उनके सब कार्यकर्त्ता बापू कहते थे और उनके साथ बापू-जैसा ही बेतकल्लुफ व्यवहार करते थे। बातों-बातोंमें एक दिन एक कार्यकर्त्ताको मजाक सूझी, तो उसने कहा, "बापू, आप गौओंकी सेवाके लिए बहुत-से काम करते हैं और एक संस्था चलाते हैं, पर एक प्राणी गायसे भी अधिक निरीह है, लोग उसपर मनमाना अत्याचार करते हैं, उसे खाना भी ठीकसे नहीं देते। वह है गधा। क्या आप उस बेचारेके लिए कुछ न करेंगे?"

बापू बोले, "तुम्हारी बात ठीक है। मैंने गौओंकी सेवाके लिए गौ-सेवक-संघकी स्थापना की है। अब तुम गधा-सेवक-संघकी स्थापना कर उसके महामन्त्री बन जाओ, तो बहुत अच्छा हो।" गान्धीजीके प्रस्तावपर सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े और गधेकी बातने सबके जीवनको क्षण-भरके लिए आनन्दसे गुदगुदा दिया। जी हाँ, गधेकी बातने !

अच्छा गधा-सेवक-संघका मन्त्री बनना, तो फिर भी एक सार्वजनिक पद पाना है, पर किसीको गधा कहना और वह भी भरी सभामें कैसा है ? जी, आपकी भी यही राय है कि यह घोर अपमान है, पर एक बार इस घोर अपमानमें भी जीवनको गुदगुदानेवाले क्षणका जन्म हुआ था।

इंगलैण्डके प्रधानमन्त्री मिस्टर लायड जार्ज एक सभामें अपने मन्त्रि-मण्डलके कार्योंकी तारीफ़ कर रहे थे । यह पहले महायुद्धकालकी बात है । उनके विरोधी एक श्रोताने सभामें खड़े होकर पूछा, “मिस्टर लायड जार्ज, आप तो शायद वही हैं, जिसके पिता गधेकी गाड़ी चलाया करते थे ?”

हँसना अँगरेजोंका स्वभाव है, तो लोग हँस पड़े, पर तभी लायड जार्जने कहा, “दोस्तो, यह सवाल सही है । मेरे पिता वाकई गधेकी गाड़ी चलाया करते होंगे, पर वह गाड़ी तो अब बिक गयी है । हाँ, यह गधा अभीतक मौजूद है ।”

ओह, कुछ न पूछिए कि लोग किस तरह हँसे, किस तरह हँसे कि लायड जार्जके बार-बार कहनेपर भी हँसीके फव्वारे बन्द न हुए और जलसाका जलसा लोट-पोट हो गया ।

अच्छी हँसी और गुदगुदीकी आवाजें तो आप काफ़ी सुन चुके, अब एक ऐसी बात सुनिए कि जिसमें न शब्दोंकी आवाज़ है, न हँसीकी, फिर भी वह जीवनको गुदगुदानेवाले क्षणोंका सर्वोत्तम प्रतीक है ।

इटलीके प्रसिद्ध देशभक्त मेजिनी उन दिनों निर्वासित थे । एक दिन वे अँगरेजीके प्रसिद्ध लेखक कार्लाइलसे मिलने गये । कार्लाइलने बहुत आदरसे उनका अभिनन्दन और स्वागत किया । इसके बाद वे अलावके पास बैठ गये और चुपचाप कई घण्टे तक बैठे रहे, कोई कुछ नहीं बोला ।

जब मेजिनी चलनेके लिए उठे, तो कार्लाइलने कहा, “आजकी शानदार मुलाकातसे बहुत आनन्द मिला और इन क्षणोंकी याद बहुत दिनोंतक जीवनको गुदगुदाती रहेगी ।”

क्या आपको भी कभी जीवनको गुदगुदानेवाले ऐसे कुछ क्षणोंका अनुभव हुआ है ? और क्या ऐसे क्षणको जन्म देनेकी कला आप जानते हैं ? नहीं, तो अभ्यास कीजिए; क्योंकि घरेलू और सार्वजनिक जीवनको समृद्ध बनाये रखनेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है ।

